ISSN : 2321-3922
अप्रैल–2016
BIHHIN05394

सुसंभाव्य

हिंदी त्रैमासिक

www.susambhavya.com

सृजन एवं समीक्षा के लिए प्रतिबद्ध पत्रिका

सुसंभाव्य

(सृजन एवं समीक्षा के लिए प्रतिबद्ध पत्रिका)

जनवरी–2016

संस्थापक–सह–प्रधान संपादक
श्री दयानन्द जायसवाल

संयोजक
डॉ. विजय कुमार सिंह

संरक्षक
श्री मती प्रतिभा सिन्हा

सम्पादक
डॉ. गिरिजा शंकर मोदी
डॉ. अश्विनी
प्रवीण कुमार

संस्थापक सदस्य
डॉ. राम किशोर शर्मा
श्री उमाकान्त भारती
श्रीमती संयुक्ता गुप्ता

विशिष्ट सदस्य
श्री अजय कुमार सिंह
श्री सत्यदेवेश प्रसाद
श्री शिवनन्दन प्रसाद सिंह
श्रीमती छाया पाण्डेय

स्वत्वाधिकारी व प्रकाशक : श्री दयानन्द जायसवाल
संपादन, संचालन, प्रबंधन एवं समस्त
व्यवस्था अवैतनिक एवं अव्यावसायिक ।
रचनाओं के लिए रचनाकार स्वयं उत्तरदायी।
समस्त विवादों का न्याय क्षेत्र
भागलपुर।

ISSN - 2321-3922
TITLE CODE : BIHHIN05394

सम्पर्क : श्री दयानन्द जायसवाल
मौर्या जुबिली प्लेस, जीरोमाईल
भागलपुर–813210 (बिहार)
मो० : 09931240303, 09570838880
वेबसाईट : www.sambhavya.net
www.susambhavya.com
ई–मेल : dnj.sambhavya@gmail.com

सुसंभाव्य

हिंदी त्रैमासिक

वेबसाईट : www.susambhavya.com

आमंत्रण

'सुसंभाव्य' अंतराष्ट्रीय स्तर की पूर्णतः निःशुल्क हिंदी त्रैमासिक है। वर्तमान समय में विश्व के 40 देशों के पाठक सहित भारत के 84 शहरों के सहृदयों का स्नेह इस पत्रिका को प्राप्त है।

इसका ई–संस्करण विश्वग्राम के सभी सुधी पाठकों एवं स्नेहीजन के लिए www.susambhavya.com पर सहजता के साथ सुलभ है। मुद्रित संस्करण यथासंभव रचनाकारों, हिंदी के लिए समर्पित संस्था और संस्थानों को उपलब्ध कराया जाता है।

श्रेष्ठ चिंतन को सहज–सरल अभिव्यक्ति के माध्यम से जब कोई व्यक्ति सार्वभौम होकर जन–गण में व्याप्त हो जाता है तब वह व्यक्ति से व्यक्तित्व और व्यक्तित्व से संस्थान बन जाता है। ऐसे महान विभूतियों से आग्रह है कि जुलाई–2016 अंक में प्रकाशन हेतु अपनी मौलिक, नवीनतम एवं प्रतिनिधि रनचाएं अपने पत्राचार–पता के साथ मेल करे या कोरियार से सम्पर्क पते पर भेजें।

आइये सब मिलकर सामाजिक सरोकार से संबंधित सार्वभौम, सार्वजनीन एवं श्रेष्ठ साहित्य के माध्यम से धर्म–मज़हब, जाति, लिंग, वर्ण, वर्ग और नस्ल–भेद की दीवार हँटा दें और सिर्फ इंसान बनें तथा उत्तम ज्ञान एवं श्रेष्ठ आचरण से स्वयं का परिष्कार कर विश्वग्राम का सौभाग्य बनें।

रचनाएं भेजें :–
E-mail : dnj.sambhavya@gmail.com
dnj.susambhavya@gmail.com
सपादक
सुसंभाव्य हिन्दी त्रैमासिक

सुसंभाव्य दिवस समारोह 2016

चतुर्थ वार्षिक स्थापना दिवस के सुअवसर पर
2015 के लिए सम्मानित किये जानेवाले रचनाकारों की सूची–

कविता : रामधारी सिंह दिनकर स्मृति सम्मान
1. श्रीमती मीरा झा, आकाशवाणी, भागलपुर
2. श्रीआमोद कुमार मिश्र, बरारी, भागलपुर

कहानी : फणीश्वरनाथ रेणु स्मृति सम्मान
1. श्रीमती नीरजा हेमेन्द्र, न्यू हैदराबाद, लखनऊ
2. डॉ. विद्या रानी, स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग, ति.मा. भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर

गीत : गोपाल सिंह नेपाली स्मृति सम्मान
1. श्रीराजकुमार, सुरखीकल, बरारी, भागलपुर
2. श्रीमती शशिकला झा, सुपौल, बिहार

गजल : दुष्यन्त कुमार स्मृति सम्मान
1. श्रीदिनेश तपन, भीखनपुर, भागलपुर
2. श्रीमती मंजुला उपाध्याय 'मजुल', पूर्णियाँ, बिहार

समीक्षा : डॉ. विजय नारायण साही स्मृति सम्मान
1. श्रीअशोक कुमार सिंह, दुमका, झारखंड

यात्रावृतांत : आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी सम्मान
1. डॉ0 रविशंकर सिंह, रानीगंज, वर्द्धमान (प.बं.)

लघुकथा : डॉ. अनुपलाल मंडल स्मृति सम्मान
1. श्रीसच्चिदानंद 'इंसान', भागलपुर

अंगिका भाषा साहित्य : डॉ. डोमन साहू स्मृति सम्मान
1. श्रीमधुसूदन झा, स्नातकोत्तर अंगिका विभाग, ति.मा. भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर

कला–संस्कृति : चक्रवर्ती देवी स्मृति सम्मान
1. श्रीमनोज कुमार सिंह, प्राचार्य, गुरुकुल उ.वि. नाथनगर, भागलपुर

संस्थापक :
'सुसंभाव्य'
साहित्यिक संस्कृति मंच

दिनांक : 17 जनवरी, 2016
स्थान : प्रशाल, मोक्षदा बालिका इंटर स्कूल

ISSN - 2321-3922
TITLE CODE : BIHHIN05394

अनुक्रम

1	पुरोवाक्	संस्थापक की कलम से	दयानन्द जायसवाल	5
2	संस्मरण	एक छाया चेहरे से गुजरी जैसे पत्ता खड़का हो	डॉ. मृदुला गर्ग	6
3	कविता	हर शख्स अपने आप से	ओमप्रकाश शर्मा	8
4	संस्मरण	भूगोल की कला	डॉ. अखिलेश	9
5	ग़ज़ल	अंधेरी रात है / ज़मी अपने वदन पर	अभिनव अरूण	15
6	भेंट वार्ता	अग्निधर्मा हैं मगर इस आग का हम क्या करें	डॉ0 रविशंकर सिंह	16
7	गीत	आईना	महेश शर्मा	19
8	आलेख	हिन्दी–मैथिली कथा साहित्य में ग्राम्य संस्कृति और नागार्जुन	उमेश पंडित 'उत्पल'	20
9	समीक्षा	आदर्श हिन्दी लघुकथाएँ	माधव नागदा	21
10	आलेख	श्यामजी कृष्ण वर्मा : आधुनिक भारत के इतिहास का विस्मृत अध्याय	डॉ. ऊषा निगम	23
11	कविता	सिलवटों की सिहरन	श्रीविजय कुमार सप्पत्ति	25
12	भेंज वार्ता	सिद्धांतकर	मोहनदास नैमिशराय	26
13	समीक्षा	कभी मोम, कभी बर्फ–सी पिघलती है जिंदगी	डॉ. रविकान्त	29
14	कविता	यह अद्भुत खेल प्रकृति का / कितना दिया प्रेम	बी.डी. बजाज,	31
15	कहानी	नाकाबंदी	नीलम कुलश्रेष्ठ	32
16	लघुकथा	नसमझ	संजय वर्मा 'दृष्टि'	36
17	समीक्षा	आदिवासी और धूणी तपे तीर	डॉ. शिवप्रसाद शुक्ल	37
18	कविता	चलता चल / नाजुक सा शीशा, मेरी आँख में पानी	कश्मीर सिंह / उर्वशी जाह्नवी अग्रवाल 'ऊर्जा'	40
19	कविता	अल्फाज, थोड़ा सा अपनापन / आओ... आ भी जाओ...	कल्पना मिश्रा बाजपेई / महावीर राजी	41
20	कविता	मिताक्षरा / जननायक	सुधा राजे/ संतोष पटेल	42
21	ग़ज़ल	एहसासे मोहब्बत की / धरा खुशहाल हों कैसे	अरुण कुमार पांडेय / सुधीर कुमार 'प्रोग्रामर'	43
22	कहानी	नई रोशनी	रवीन्द्रनाथ टैगोर	44
23	लघुकथा	औकात	विश्वम्भर पांडेय 'व्यग्र'	47
24	लाकवाणी			

मैं लड़ता रहूँगा

तुम चाहे डाल दो अपनी मशालें
मेरी आँखों में
बर्फ कर दो मेरे होठों की सर्द मुस्कुराहट
भर दो हवाओं को अभिशप्त लहरों से
या दे दो सन्नाटा मेरे आक्रोश को
छीन लो मेरा धन या
उखार फेंको मुस्कुराहटें
मेरे बच्चों के चेहरे से
तुम ठोंक दो मेरी आँखों में
गहरे अपमान की कीलें
ओ इन्सानियत के दुश्मन
मैं समझौता नहीं करूँगा
अपनी अंतिम साँस तक
मैं लडूँगा....लड़ता रहूँगा।

—जोस दि दियागो

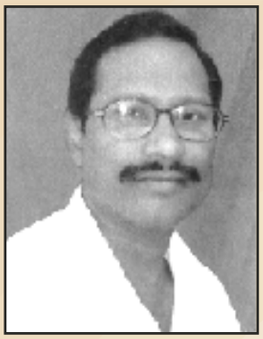

पुरोवाक्

दयानन्द जायसवाल

संस्थापक की कलम से

जीवन की संजीवनी, उसका सूर और संगीत तो मनुष्य की कोमल भावनाओं, गहरी अनुभूतियों और उसकी भावी स्वप्नदृष्टि में है, जो साहित्य से जीवन रस बनकर उन्हें प्राप्त होता रहता है। जिससे मानव की पवित्रता, संस्कृति का सत्य और बुद्धि की अहिंसा पाकर श्रेष्ठतम जीवन मूल्यों की तलाश में जीता है, पर फिर भी आज कहीं–न–कहीं ऊपर से सभ्य और सुसंस्कृत दीखने वाले भीतर से इतना खोखला और विकृत हैं कि मानवीयता को, उसके मूल्यबोध को नहीं समझ पाते हैं। यह सामाजिक विषमता, अन्याय और शोषण का पर्याय बनकर रह गया है। इसने वर्ग विद्वेष और हिंसा का ऐसा जहर समाज की रगों में घोल दिया है कि सदियों से मानवता तड़प–तड़प कर दम तोड़ रही है।

साहित्य को अब समाज का आईना भर ही नहीं रखना है, बल्कि उस आईने में दीखनेवाले विकृत चेहरे के कारणों की खोज कर, उन्हें मिटा डालने के क्रांतिकारी तत्त्वों को आदमी में सृजित कर एक बदलाव ही भूमिका देनी है। बदलाव की पुरुषार्थ एवं नये जीवन का विहान है। विचारों का बदलाव साहित्य से संभव है और वही मानवीय समस्याओं की तह से गलत विचारों और मूल्यों को अलग कर सही मूल्यों को सृजनात्मक धरातल पर ला सकता है।

युद्ध का विरोध तो संसार के सारे देश करते हैं, पर जब राष्ट्रीयता सामने आती है, सब भावनाएँ विलुप्त हो जाती हैं। विश्वकल्याण और शान्ति की दिशा में राष्ट्रीयता सबसे बड़ा बाधक तत्त्व बना बैठा है। जाति, नश्ल, वर्ग और सम्प्रदाय में बँटे लोगों में निकृष्ट भावनाओं का जहर भर राजनेता अपने निहित स्वार्थ में मानवता का लक्ष्य ही भूल जाते हैं और विश्वग्राम की कल्पना करते हैं। यह कल्पना साकार तभी कर सकते हैं, जब अंतर्राष्ट्रीयता के हित के सामने राष्ट्रीयता के त्याग की बात हो।

आधुनिक भौतिकवादी सभ्यता से असंतोष मानववादी बुद्धिजीवियों के लिए स्वाभाविक है; क्योंकि इस सत्यता ने, वह पूँजीवादी हो या समाजवादी, मनुष्यता का अवमूल्यन, मानवीय स्वंतत्रता का अपहरण और मानवीय व्यक्तित्व का विघटन किया है। लेकिन इसका उपचार भौतिकता के महत्त्व को कम कर के आँकना नहीं, बल्कि भौतिकता और आत्मिकता के संबंध की जटिलता को समझना और उसके अनुसार आचरण करना है।

इतिहास साक्षी है कि शब्द कभी मरता नहीं। वह रक्तबीज बन फैलता है। फिर भी व्यवस्था इसके विरोध में आक्रामक रहती है। वह चाहती है, साहित्य विकसित न हो, वह जनसाधारण की पहुँच से बाहर हों। परिणामस्वरूप रचनाधर्मी व्यक्तित्व और संवेदनाशून्य होता समाज आज साथ–साथ मर रहा है। आर्थिक तंगी और आदमी के दर्द को आत्मसात कर रहा है। भूख, अभाव, प्रताड़ना और तबाही में दम तोड़ते लोगों के बीच साहित्यकार प्रेम का गीत गाकर सहज नहीं रह सकता। ऐसे दहलीज पर खड़ी दस्तक देनेवाली इस दुनिया को आज हम बर्बरता के बीच तड़पते देखते रहें, तो ग्लानि और चिंता के साथ घातक बात होगी। अतः साहित्यकारों को अपने उत्तरदायित्व–बोध में समाज की अगुवाई करते हुए उसे सही दिशा निर्देश देना है।

'सुसंभाव्य' में सहजता, सार्थकता, सौंदर्य और अनुभूति का यथोचित समावेश करनेवाले उन तमाम साहित्यकारों के साथ मैं उन पाठकों का भी आभारी हूँ, जिनकी संवेदनाएँ हमारे साथ जुड़ी हैं।

संस्मरण

एक छाया चेहरे से गुजरी जैसे पत्ता खड़का हो

–मृदुला गर्ग, नई दिल्ली, 110048
मो०–09811766775

अज्ञेय से मेरी पहली मुलाकात 1974 में हुई, जब मेरी बहिन मंजुल भगत का पहला कहानीसंग्रह 'गुलमोहर के गुच्छे' भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित हुआ। मैं दस बरस दिल्ली बाहर रहने के बाद, तभी वापस लौटी थी। 1970–71 में हम दोनों ने करीब–करीब एक साथ लेखन शुरू किया था। मेरी तब तक कोई पुस्तक छपी न थी।

मंजुल की पहली किताब के प्रकाशन की खुशी में सप्रू हाउस में चायपान था। लगे हाथों दो–चार लेखक– आलोचक किताब पर बातचीत भी करनेवाले थे। एक दिन अचानक मंजुल मेरे घर आयीं और बोलीं, 'मजा तब आये, जब जलसे में अज्ञये आयें।' मैंने कहा, 'बुला लेती हूँ।'

आप समझ गये, हम हिन्दी साहित्य के राजनीतिक शिष्टाचार से किस कदर अनभिज्ञ थीं। अलबत्ता अज्ञेय के साहित्य से नहीं। खूब पढ़ा था उन्हें। उन दिनों अज्ञेय हिंदी साहित्य गगन पर सूर्य की तरह देदीप्यमान थे। पर चूँकि मंजुल ने एम.ए. अंग्रेजी में नाम लिखवाया था। डिग्री भले न ली हो और मैंने एम.ए. करके तीन साल अर्थशास्त्र पढ़ाया था। हमें हिन्दी जगत् के सोपानतंत्र और चरण–स्पर्शीय शिष्टाचार की आदत न थी। मिरांडा हाउस और दिल्ली स्कूल ऑफ इकोनोमिक्स में नामी–गिरामी प्रोफेसरों और अर्थशास्त्रियों से हम बराबरी के दर्जे पर बहस करते रहे थे। घर का संस्कार भी बौद्धिक और उदार था, हर उम्र का सदस्य अपनी राय देने को सर्वथा स्वतंत्र था। दरअसल पिताजी का अज्ञेय से अच्छा परिचय था, पर उन्होंने उनसे बात करने से इन्कार कर दिया। कहा, 'हम दोनों से अपना रिश्ता वे तभी जाहिर करेंगे, जब वे हमारे पिता की तरह जाने जा सकें, हम उनकी बेटियों की तरह नहीं। तकदीर हमारी ऐसे नैतिक जन हमारी ही किस्मत में लिखे थे।

हमने तय किया, अज्ञेय को फोन करके जलसे में आमंत्रित किया जाए। फिर हमने काल्पनिक सिक्का उछाला, जो हमेशा की तरह मेरे विपरीत पड़ा। यानी फोन करने का जिम्मा मेरा हुआ। फोन मिलाया गया, अज्ञेय ने खुद उठाया या उन्हें दिया गया, याद नहीं। मैंने कहा, 'वात्स्यायनजी! मेरा नाम मृदुला गर्ग है, आप मुझे नहीं जानते। मेरी बड़ी बहिन हैं मंजुल भगत, उन्हें भी आप नहीं जानते। उनकी पहली किताब 'गुलमोहर के गुच्छे' छपकर आयी है। उस खुशी में हम फलाँ तारीख को फलाँ वक्त सप्रू हाउस में चायपान कर रहे हैं, आप आइए।'

पूछा गया, 'किताब कहाँ से छपी थी। मैंने बतलाया, 'भारतीय ज्ञानपीठ से।' तब मंजुल ने मेरे हाथ से फोन ले लिया और बोलीं, 'यह वही भारतीय ज्ञानपीठ है, जिसने सुमित्रानंदन पंत को पुरस्कार दिया था। वात्स्यायनजी ने कहा कहा, 'समझ रहा हूँ, पर पुस्तक मेरे पास आयी नहीं।' 'ओहो, हम आकर दे जाते हैं। बंगाली मार्केट से आपके घर कौन–से नंबर की बस आती है?' 'रहने दीजिए', अज्ञेय ने कहा और फोन कट गया।

मैंने कहा, 'अजीब अहमक है तू। उनसे बस का नंबर पूछने की क्या जरूरत थी?हम खुद पता कर लेते।' वह बोली, 'तू कौन कम बेवकूफ है। मैं मृदुला गर्ग हूँ, आप मुझे नहीं जानते। वह मंजुल भगत है, आप उसे नहीं जानते.... ऐसे भला कोई आता है।' हमने तय पाया कि अज्ञेय नहीं आएँगे।

पर वे आये सबसे पहले। देर तक रहे। किताब देखी, शायद एक कहानी भी पढ़ डाली। बोले, 'ऐसी बहिनों को देखने का मोह कैसे छोड़ता, जो अपनी पुस्तक की खुशी खुद मना रही हों।' मंजुल ने दबे स्वर में मुझसे कहा, 'यह तो ऐसे है कि कोई पूछे, आप अपने जूते खुद पॉलिश करते हैं तो जनाब कहें, आप किसके करते हैं?यानी हम बौड़म समझ नहीं पाये कि अपनी किताब की खुशी खुद क्यों नहीं मनायी जा सकती।

उनसे नहीं कहा तो उनके व्यक्तित्व के प्रभामंडल के दबाव में। यह वह जमाना था कि जब रवीन्द्रनाथ ठाकुर के बाद किसी लेखक की सदेह छवि मोहित करती थी तो अज्ञेय की। अपनी छवि की तराश में वे सजग–सतर्क थे। एक शब्द में कहना हो तो उस छवि को यही नाम दूँगी, तराश। तराशी हुई दाढ़ी, तराश के साथ इस्तरी किया लिबास, तराशा सधा–स्वर, तराशे हुए तेवर। तराशा रचनाकर्म और चिंतन। तराशी हुई आत्मकथा यानी शेखर एक जीवनी। तराशी यायावरी। तराशा प्रेम, कई बार या एक बार भी नहीं? वैसा ही अहम्। दूसरे के अहं को तराशकर बौना बनाने का माद्दा। साधारण को तराश कर सानुपातिक कर डालने का भी। उनके व्याख्यानों से बढ़कर मेरे लिए धरोहर उनका वह तेवर है, जिसके चलते वे किसी के आगे झुकते न थे। एक गोष्ठी में पोलैंड के विख्यात हिन्दी अध्येता, स्मेकल साहेब ने हिन्दीवाले को शुद्ध हिन्दी न बोलने पर धिक्कारा। अज्ञेय ने निहायत संयमित स्वर में विरोध जताते हुए कहा, हमारी भाषा है, हम जैसे चाहें बोलें; हम निरंतर उसे परिवर्तित करते हैं, करना चाहिए। एक प्रगतिशील गोष्ठी में इसलिए बोलने से इन्कार कर दिया; क्योंकि उनके हिसाब से विचार–विमर्श का स्तर बचकाना था। खूब मनाने पर भी नहीं माने, उठकर चले गये। जबकि बाकी दिग्गज, मान–मनौवल का खेल खेलने के बाद देर तक बोलने पर राजी हो गये।

अज्ञेय अपनी संजीदगी और दीर्घ मौन के लिए मशहूर थे। यह हमारा सौभाग्य था कि हमने उन्हें पहले–पहल मुस्कुराते, हँसते, मजाक करते देखा। यहाँ तनिक संशोधन जरूरी है। आमने–सामने भले उस दिन पहली बार देखा था, पर दूर से उसकी सुस्मित, खिलंदड़ी छवि के साक्षी काफी अर्से से रहे थे। यकीन के लिए यह जानना काफी है कि हम मिरांडा हाउस में उन दिनों पढ़े थे, जब कपिला मलिक (वात्स्यायन) वहाँ अंग्रेजी पढ़ाती थीं और वात्स्यायन जी का उनसे प्रेमयोग चल रहा था। जब अज्ञेय की गुरु गंभीर छवि को देखते हुए 'अफेयर' तो कहा नहीं जा सकता! कपिलाजी पूरे मिरांडा हाउस की लाडली बेटी थीं। वात्स्यायनी से उनका विवाह हुआ तो लगा हमीं ने बेटी विदा की। उनकी आशिकी और शख्सियत की कोशिश वात्स्यायन के उपन्यास नदी के द्वीप में बखूबी महसूस की। कोई कितना 'अज्ञेय' क्यों न हो, आशिकी के सफर के दौरान बे–मुस्कुराये कैसे रह सकता है?लिहाजा हमने दूर से जब उन्हें देखा तो दमकती मुस्कान लिये। कपिलाजी से उनका संबंध–विच्छेद हुआ तो उसका दुख, हमने अपनी रगों में महसूस किया। यह बात और है कि झलाजी से भी हमारा परिचय था और वे हमें भाती भी खूब थीं। शिशु के लिए उनकी उद्दाम अतृप्त लालसा के भी हम साक्षी रहे, पर वह अवांतर प्रसंग है।

वापस कवि से पहली सदेह मुलाकात पर आया जाए। कुछ न

कहकर, बहुत कुछ कह गये थे उस दिन। अज्ञेय हमें ईमानदारी का अमूल्य सबक सिखला दिया था या समझिये कि पिताजी की सीख पर मुहर लगा दी थी। उस बेलौस ईमानदारी की वजह से आगे चलकर हमने तरह–तरह के अन्याय सहे, पर ईमानदारी नहीं छोड़ी। चाय के दौरान उनका पिताजी से मिलना भी हो गया और उनके यह कहने से कि 'तो आप इनके पिता हैं,' हमारे हाथ लॉटरी लग गयी। पिताजी सार्वजनिक रूप से हमारे तजवीज हो गये।

अज्ञेय के कहे का निहितार्थ समझने में हमें देर नहीं लगी थी। हिन्दी साहित्य जगत् में ईमानदारी से अपनी भावनाएँ प्रकट करने का रिवाज नहीं था। हर लेखक अजब दार्शनिक या गुस्सैल मुद्रा अपनाये घूमता था, जैसे साहित्य का जनाजा कंधों पर उठाये हो। प्रेम, कला, शिल्प, वैयक्तिक अस्मिता, रस आदि तिरस्कार और उपेक्षा के भाव थे, बल्कि यूँ समझिये कि 'भाव' ही तिरस्कृत था। घोषित प्रगतिशील, पत्नी के नि:स्वार्थ प्रेम का भरपूर मजा लेते हुए 'प्रेम' को नकारते थे। अफीम खाने से परहेज न था, पर धर्म को अफीम कहकर धिक्कारते थे। मेहनताने का चेक मिलने पर उसे भुना, शराब पीना प्रगतिशील थी, पर बच्चों पर मिठाई खरीदना, उच्चवर्गीय प्रतिक्रियावाद। छोटी दीवाली पर हुई रेडियो रिकार्डिंग के बाद, मैं इस 'व्यापार' की भुक्तभोगी रही थी। धुरंधर से धुरंधर लेखक, कलम हाथ में थामे, इंतजार करने पर मजबूर था कि शिल्प सूझे तो विचार की धारा को रचनात्मक कृति बनाये शिल्प के अदम्य आकर्षण को, पाश्चात्य अनुकरण बतलाकर, लांछित करने से बाज नहीं आता था। भूल जाता था कि मार्क्सवाद स्वयं धुर पाश्चात्य फलसफा है या कला और सौंदर्यबोध को कोस कर, वह मार्क्स के अपूर्व भाषा ज्ञान और कलात्मक शिल्प को तिरस्कृत कर रहा था।

ऐसे माहौल में भाषा और शिल्प के अद्‌भुत चितेरे अज्ञेय का कला प्रति समर्पित बने रहकर साहित्यिक बिरादरी का सम्मान जीतना, चमत्कार से कम न था। अनेक गोष्ठियाँ में उन्हें ईमानदारी और साहस के साथ अपने नितांत मौलिक चिंतन को शब्द देते सुन चुकी थी। दिनमान के संपादक रहते उन्होंने प्राग, वारसॉ जैसे अंग्रेजों के दिये उच्चारण को छोड़, यूरोप के शहरों के मूल नाम–प्राहा, वरसावा आदि लिखना शुरू किया था। अफसोस हमारी उपनिवेशवादी मानसिकता, सच्चाई हजम न कर पायी और उनके जाने के बाद, हम अंग्रेजियत पर लौट आये। पर मुझे लगता है आगे चलकर कोलकाता, मुंबई आदि नामकरण, उन्हीं के बीज से पनपे थे।

उस पहली मुलाकात के बाद अज्ञेय से गोष्ठियों में मिलना होता रहा, पर साक्षात् अकेले मिलना छह बरस बाद तब हुआ, जब 1980 में मेरा चौथा उपन्यास 'अनित्य' छपा। पहला उपन्यास 1975 में छपा था, पर मंजुलवाला वाकया दुहराने का मौका न था। दुहराव में तिलिस्म नहीं होता। यूँ भी प्रकाशक द्वारा आयोजित गोष्ठी में बतौर अध्यक्ष जैनेन्द्र जी आये थे। जैनेन्द्र और अज्ञेय के बीच तनातनी अर्से से चल रही थी। सुना था जैनेंद्र ने कहीं अज्ञेय का परिचय अनुवादक की तरह दे डाला था, जिससे जाहिर है, तनातनी और बढ़ गयी थी। वात्स्यायन को जैनेंद्र का दिया 'अज्ञेय' उपनाम ही पसंद न था। अपनी नापसंदगी वे छुपाते न थे, पर अचरज उपनाम का प्रयोग करते जाने से भी एतराज न था। दरअसल यह इस बात का सबूत था कि वात्स्यायन नाम का कवि धरती पर नहीं, धरती पर विचरनेवाला जीव था। मानवीय गुण–दोष संपूर्त।

धरती को अगर प्रकृति या पर्यावरण का पर्याय मानें तो अज्ञेय से ज्यादा कौन था धरती का?पत्ते–पत्ते में उनकी गहरी काव्यात्मक ही नहीं, दार्शनिक रुचि थी। वैज्ञानिक जानकारी भी कम न थी। कौन–सी वनस्पति कब–कहाँ उगी, किस जैविक तर्क के तहत पनपी, किस–किस तरह हरियाई और नष्ट हुई, उनसे ज्यादा किसी कवि ने न जाना, न जानने की कोशिश की। प्रकृति का नैसर्गिक संगीत उनके लेखन में यूँ तरंगित था कि उसकी सौंदर्यानुभूति ही नहीं, उसमें निहित गहन चिंतन भी, प्रकृति के विलक्षण तर्क से प्रेरित होता था। यही कारण था कि उनके अतुल्य और विपुल गद्य साहित्य के बावजूद अंततः उनके नाम के साथ 'कवि' शब्द उपनाम की तरह जुड़ा, जैसे रवीन्द्रनाथ ठाकुर के साथ 'कविवर गुरुदेव' या शेक्सपीयर के साथ 'द बार्ड'।

1980 में तमिल लेखक पोट्टेकट को भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार मिला था। उस उपलक्ष्य में शाम के चायपान में मंजुल और मेरी मुलाकात, अज्ञेय और पोट्टेकट से एक साथ हुई। चित्र खींचे जा रहे थे। पता नहीं, अज्ञेय को क्या सूझा कि मंद स्मित के साथ मंजुल और मेरे एक तरफ खड़े हो गये, पोट्टेकट को दूसरी तरफ खड़े होने का इशारा करके बोले, 'हम इनके द्वारपाल हो जाएँ।' यह हँसी–मजाक कितना दुर्लभ था, मैंने बाद में समझा। वहीं उन्होंने मुझे बतलाया कि किसी पत्रिका में मेरे उपन्यास की समीक्षा निकली थी, कहा–'बड़ी तारीफ है आपकी।' फिर जोड़ा, 'घर आएँ तो बात हो सकती है।' मुझे कूढ़मग्ज की समझ में भी आ गया कि उपन्यास उन्होंने पढ़ लिया है।

मैं तिपहिया लेकर केवेंटर ईस्ट, उनके बँगले पर पहुँची; तय वक्त से पाँच मिनट बाद। शहर के शहरीपन की कैद से छूटा, गजब इलाका था। घर था कि मिलकर नहीं दे रहा था। मैं वक्त की पाबंदी का सबक घुट्टी में पिये थी। लिहाजा तिपहिये से उतरते ही, आकुल स्वर में देर से आने के लिए माफी माँगी। उनके चेहरे पर मुस्कान–सी छलकी। एक भौंह ने हरकत की और वे बोले, 'आइए।' मुझे लगा, सिर्फ पाँच मिनट की देरी के लिए क्षमा माँगना उन्हें भाया है। जहाँ तक मुझे याद है रमेशचन्द्र शाह तथा कुछ अन्य जन बाहर बरामदे में थे। अज्ञेय मझे सीधे बैठक में ले गये। सबसे पहले जो उन्होंने कहा, उससे अचरज भी हुआ और उनकी छवि की तराश भी बिगड़ी। कहा कि मेरे पिछले उपन्यास चित्तकोबरा पर सारिका में बहस पढ़ी थी, पर उपन्यास नहीं। अनित्य पढ़ने के बाद चित्तकोबरा मँगाकर पढ़ी। चकित, मैं सोच रही थी, अगर अज्ञेय जैसा मनमौजी और दंबग व्यक्ति, सारिका की फूहड़ टिप्पणियों से प्रभावित हो, चित्तकोबरा पढ़ने से परहेज कर सकता था तो आमजन का क्या हाल हुआ होगा?तबतक चुप्पी का पाठ हृदयंगम कर लिया था, सो अपनी भवों पर तनिक ऊपर उठा, सम पर ले आयी कुछ कहा नहीं। अज्ञेय ने क्षणांश को मुझे ताका। एक छाया चेहरे पर थिरक कर गुजर गयी, जैसे पत्ता खड़का हो। फिर वे अनित्य पर बात करने लगे। बहुत बातें हुईं, दुहराना बेकार है, कोई गवाह है नहीं। कुछ दिन पहले चंद्रकांत बांदिवडेकर ने मुझसे कहा कि अनित्य अज्ञेय को पसंद आया था, पर उसका भी कोई गवाह नहीं है, सो आपका मानना, न मानना दोनों उचित होंगे। हाँ, उस बातचीत में एक दिलचस्प प्रसंग था, जिसे बाँटना चाहती हूँ। स्मृति में अटका है, ज्यों का त्यों।

उपन्यास का अनित्य नामक पात्र के बारे में उन्होंने कहा कि कैसा मोहभंग है, उसका जब वह बार–बार लौट आता है। प्रतिवाद में मैंने कहा, 'यही तो अंतर है यायावर और संन्यासी में। संन्यासी जाता है तो लौटता नहीं, यायावर लौट–लौट आता है। तभी तो यायावर कहलाता है, नहीं?'

यायावरी के विशेषज्ञ अज्ञेय से वह कहना, गुरु–शिष्य परंपरा के दरबार में गुस्ताखी ही मानी जाएगी। पर मुझे आदत थी, डॉक्टर वी.के. आर.वी राव और के.एन. राज जैसे दिग्गज गुरुओं से बहस करने की। सो

निःसंकोच अपना मत दे डाला। उन्होंने उत्तर नहीं दिया। न विरोध, न अनुमोदन; बस इस बार पत्ता जरा जोर से खड़का। एक सुरमुई छाया चेहरे से होकर गुजरी और कमरे में मौन पसर गया। चुप्पी खिंचती गई। उनकी चुप्पी की दीर्घता से मैं स्वयं परिचित न थी, पर उसका बखान पर्याप्त सुन रखा था, इसलिए कुछ देर बाद उठ खड़ी हुई, 'नमस्कार।'

'जाएँगी?' वे बोले। एक बार फिर चेहरे पर छाया लहराई, पर वह पहली छाया से कुछ अलग थी। 'बैठिये', उन्होंने कहा, 'इला नाश्ता कर रही है।' किसी अदृश्य संगत के अंतर्गत, इला जी व नाश्ते के ट्रे लिये सेवक तुरंत उपस्थित हो गये। मैं बैठ गयी और क्या कर सकती थी! सोचा, मुझे इला जी के पास छोड़, अज्ञेय बाहर चले जाएँगे, पर वे नहीं गये। कुछ औपचारिक बातचीत के बाद, पता नहीं क्यों, इलाजी और मेरे बीच लेखक के अहम् पर बात चल निकली। चोट खाये थी, शायद इसलिए मेरे मुँह से निकला, 'लेखक में अहंकार तो होता ही है।' इस बार अज्ञेय के चेहरे को जिस छाया ने धूमिल किया, वह गुजरी नहीं, टिकी रही। मैंने तुरंत संशोधन किया, 'अहंकार नहीं, अहम् कहना चाहिए था।' छाया छट गयी। फिर जाने मुझे क्या सूझा कि आ बैल मुझे मार की तर्ज पर उनकी आँखों में आँखें डालकर कहा, 'वैसे व्यावहारिक अंतक दोनों में है नहीं।' कहने के साथ अपना पर्स उठा, चलने की तैयारी भी कर ली। सोचा, इस बार उनके चेहरे पर जो उभरेगा, देर तक झेला न जाएगा। पर हुआ यह कि माथे पर शिकन आते–आते बिला गयी और वे मुस्करा दिये। मेरा मन्तव्य समझ, मेरे ही अस्त्र से मुझे परास्त कर दिया। मैं नतमस्तक हुई।

एक बात और। उनके पिचहत्तरवें जन्मदिवस पर कई समारोह हुए थे। उन्हीं में से एक में आपसी बातचीत में उन्होंने कहा था, हमारे यहाँ 75 नहीं, 77 वर्ष और 77 दिन की आयु महत्त्वपूर्ण है। पता नहीं क्यों, मैंने, जिसने कभी डायरी नहीं रखी हाथ की पुस्तिका में यह दर्ज कर लिया। उनकी मृत्यु हुई तो वह कथन याद आया। उस पड़ाव पर वे पहुँचे नहीं थे। यह लेख लिखते हुए पुस्तिका खोजने का प्रयास तक मैंने नहीं किया। इतनी प्रिय वस्तुएँ नष्ट हो चुकीं कि वह भी बिला गयी होगी कहीं। खोजने का मन नहीं है, याददाश्त काफी है। सबूत न होने पर भी गलत नहीं हूँगी; क्योंकि यह बात मेरे सपने में आ सकनेवाली है नहीं।

कविता

हर शख्स अपने आप से

–ओमप्रकाश शर्मा

ए जिन्दगी!
किस बात पर खुशी मनाने जा रही हो
औरों की तुलना में तुम अधिक आज़ाद महसूस करती हो
लेकिन परिवेश तुम्हारा वही है
तुम अपने अल्फ़ाज़ से औरों को ध्यान खींच सकती हो
लेकिन तुम्हारे में भी स्वर वही है।।
भले ही नव दुल्हन अब
जागीरदार की कोठी पर नहीं बिलखती हो
स्थान बदला है
पर आलम उसका अब भी वही है
बिलखना उसका अब भी वही है।।
तुम स्त्री अस्मिता की बातें बहुत करते नजर आते हो
स्त्री के अधिकारों पर उसका ही अधिकार बताते जाते हो
लेकिन तुम्हारे जेहन में
उसके लिए आज भी मसलेहत वहीं है
भले ही स्त्री की रुह अब कोठों पर नहीं बिकती हो
कोठों पर प्रतिबंध हो
लेकिन हवस का खुमार अब भी वहीं है
बाजार अब भी वहीं है।।
तुमको भले ही आजादी के विचारों की रोशनी दिखती हो
लेकिन जमाने की सोच अब भी वहीं है
परतंत्रता की शब अब भी वहीं है।।
ए जिन्दगी!
किस बात पर खुशी मनाने जा रही हो।
अब जुर्अत है
अपने परिवेश के ज़मीर में गुफ़्तगू की
खुमार जो छाया है उसको हटाने की
और विचारों के नव पल्लवन की
ए जिन्दगी!
तुम किस बात पर खुशी मनाने जा रही हो।।

संस्मरण

भूगोल की कला

डॉ. अखिलेश
लखनऊ, उत्तरप्रदेश
9415159243

जन्म उ.प्र0 के सुल्तानपुर जनपद के कादीपुर कस्बे में हुआ था। पाँचवीं कक्षा तक यहीं मेरा ठिकाना था। आज भी मेरे मस्तिष्क में बसी सबसे शांत मंथर आत्मीय यादें उन्हीं दिनों की हैं। वहाँ छोटा–सा घर था। एक कमरा, बरामदा फिर एक मड़ैया या बड़ा–सा आँगन और आँगन में अमरूद का पेड़ था। अमरूद का पेड़ एक सरल उदास बूढ़ी गाय की तरह सदैव खड़ा रहता था। वह हमें छाँह देता था, फल देता था और अपनी शाखा पर झूला डालने की इजाजत देता था। थोड़ी दूर तहसील थी, जहाँ मेरे पिता कर्मचारी थे। माँ घर में गृहस्थी सँभालती और हम दो भाई एक बहन को अपनी ममता से सराबोर करती रहती। हम निम्न मध्यवर्ग में थे और उन दिनों इस तबके के लोगों में ख्वाहिशों की ऊँची उड़ान नहीं थी। भविष्य को लेकर दीर्घसूत्री योजनाएँ और कामनाएँ नहीं थीं। ईश्वर के दरबार में मेरे पिता की जो अर्जियाँ लगी थीं, उनमें यही था कि इंटर तक पढ़ लें और उसी तहसील में नौकरी करने लगें। बेटी जितना पढ़ना चाहे पढ़े, फिर अच्छी शादी हो जाए। स्वयं अपने को लेकर उनके पास खास ख्वाब नहीं थे। न जमीन खरीदनी थी, न मकान बनाना था। सेवानिवृत्ति के बाद गाँव जाकर जिंदगी गुजारनी थी। वे दिन थे, हमारे जैसे घरों में न अखबार आता था, न रेडियो था, न पंखा था। मेरे घर में इस्तरी करने के लिए प्रेस भी न था, जिसको तब हम लोहा कहते थे। हम अधिकतर बगैर इस्तरी किये कपड़ा पहना करते। विशेष अवसर पर लोटा में दहकते हुए कोयले डालकर उसकी पेंदी गर्म होने पर उसे कपड़े पर घुमाते थे। इस तरह हम कपड़े की सिकुड़नें दूर करके उसे बढ़िया बन लेते थे।

कादीपुर कस्बे में एक इंटर कॉलेज था, उससे आगे उच्च शिक्षा की पढ़ाई के लिए बाहर सुल्तानपुर, इलाहाबाद, लखनऊ जाना होता था, जिसकी हमारे घर से आर्थिक ढाँचे में कोई गुंजाइश न थी। इस तरह भरपूर चाकचौबंद व्यवस्था थी कि घर में कोई लेखक न बन सके। वैसे भी हमारी सात पुश्तों में साहित्य की कोई परंपरा नहीं थी और जाहिर है कि हमारे वर्तमान में भी इसके लिए संभावनाएँ नहीं थीं। लेकिन संसार एक तरह से चलता है, तो संसार दूसरी तरह से भी चलता है। ठीक है कि बचपन के मेरे परिवेश में साहित्य की किताबें नहीं थीं, बच्चों के लिए अच्छी पत्रिकाएँ और पोथियाँ नहीं थीं, कोई प्रेरक या मार्गदर्शक नहीं था, किन्तु बहुत कुछ इनके अलावा होता है, जो असर डालता है। कुदरत के बहुतेरे रंग–गंध, ध्वनियाँ, छवियाँ तथा इनसानी इल्म से तैयार नियामतों का सयोजन और कादीपुर का संसार मुझपर छाप छोड़ रहे हैं। मेरे घर की बगल में एक रामलीला वाली बाग थी, जहाँ रामलीला हुआ करती थी। नौटंकी भी होती, जिसमें दहीवाली, भक्त पूरनमल, अमर सिंह राठौर जैसे ड्रामा होते। नौटंकी हो या रामलीला शुरू होने के पहले ही मैं बाग में पहुँचकर जगह छेक लेता था। एक दूसरी बाग भी थी, जहाँ साल दो साल में कोई बड़ी नौटंकी कंपनी आती थी। एक बार मथुरा की कोई नामी कंपनी थी, जिसमें स्त्री पात्रों का अभिनय पुरुष नहीं, स्त्रियाँ खुद करती थीं। इसमें मैंने सुलताना डाकू और गंगा–जमुना खेला देखा था। 15 अगस्त, 26 जनवरी, 2 अक्टूबर को मैं अपने बड़े भाई के नेशनल इंटर कॉलेज वहाँ के सांस्कृतिक कार्यक्रम देखने चला जाता था, जिसमें मेरे गाँव के दुबले पतले युवा देवी प्रसाद त्रिपाठी जी महात्मा गाँधी बनते। देवी प्रसादजी बाद में जे.एन.यू. छात्र संघ के अध्यक्ष, प्रखर वक्ता, विद्वान् हुए और आजकल सांसद हैं। सांस्कृतिक कार्यक्रमों से बाहर जब भी मैं त्रिपाठी जी को देखता, चाय की दुकान पर देखता और सिगरेट फूँकते हुए देखता था। यह बहुत अनोखा था। उन दिनों इंटर का विद्यार्थी दुकान पर चाय पीता और सिगरेट धौंकता। त्रिपाठीजी एक बार कुछ छात्रों के साथ किसी राजनीतिक सभा पर पथराव करने की वजह से भी चर्चा में आये थे। वह राजनीतिक सभा रामलीला वाली बाग में ही हुई थी। यहीं मैंने बाबू जगजीवन राम को भी एक सभा में देखा था और चौधरी चरण सिंह को देखा था, जब कि श्रीमती इंदिरा गाँधी को मिडिल स्कूल के मैदान में। बाग में रामलीला और राजनीतिक सभाएँ ही नहीं होती थीं, वहाँ दशहरे में मेला भी लगता। रावण–मेघनाथ दहन होता था। कभी–कभी आल्हा का आयोजन किया जाता, खटिया पर बैठे गायक एक हथेली कान पर रखकर दूसरी हवा में उठाते हुए तान छेड़ते थे और बहुत जल्द श्रोता वीर रस में भीग उठते।

बाग की बात अपनी जगह, दरअसल वह पूरा वक्त ही मुझ पर बिम्बों, रंगों, स्वाद की बारिश कर रहा था। तब मस्तिष्क और हृदय सादा, ग्रहणशील और व्यापक थे। मुहर्रम के जुलूस के ताजिये अपनी तरफ खींचते, तो गाजी मियाँ की बारात में हम जत्थे के पीछे–पीछे लग जाते। बाइस्कोप में आँखें घुसाकर आगरे का ताजमहल, दिल्ली का लालकिला और नौ मन की धोबन देखा करते। यदा–कदा दो पैसे की एक आइसक्रीम लेकर चूसते हुए अपने होठों को लाल कर डालते। साल में कभी जब रात में झाँकियाँ निकलतीं, उन्हें देखने की खातिर लोग घरों से निकलकर सड़क पर आ जाते। घूमता हुआ लट्टू, नाचता हुआ भालू–बंदर, एक स्थान पर उछलकर दूसरी जगह बैठ जाता मेढक, अपनी ठंडक तजकर खौल उठता पानी, टिकोरे का आम में बदल जाना, हरे फल का पीला बन जाना, आँधी का चलना, पानी बरसना, आरा मशीन का लकड़ी के बड़े–बड़े कुंदे चीर देना, धुनिया का रूई धुनना, हारमोनियम–ढोल–मँजीरे का संगीतमय बजना, पत्तियाँ–फूल परिन्दे... इनसान को छोड़कर सब कुछ में उन दिनों रहस्य, सौंदर्य ओर कौतुक था। सब कुछ आहिस्ता, तेज या बहुत तेज या काफी धीमे आकर मुझमें बसकर अमिट हो जा रहा था। मैं सीख रहा था : संसार में हर चीज हर शो अनोखा है। साइकिल का घूमता हुआ पहिया, बैलगाड़ी–इक्का का चक्का या हवाई जहाज सभी की गतियाँ आकर्षक हैं। सभी रंग और रंगों का मिलाप दिलकश होता है। पपीहा–कोयल की बोली, बिल्ली की म्याऊँ, बादल का गर्जना, बच्चे का सिसकना–प्रत्येक ध्वनि में संगीत निवास करता है।

हमारे घर के पीछे सड़क थी। सड़क के किनारे एक मकान में बैद्यनाथ आयुर्वेदिक दवाओं की दुकान थी। एक रोज मैंने देखा : उस दुकान की एक बड़ी–सी दीवार को नीले रंग में पेंट किया जा रहा है, फिर उसपर दूसरे रंगों से अक्षर लिखे जा रहे हैं और कुछ विविधरंगी चित्र रचे जा रहे हैं। इसी प्रकार तहसील की ज्यादा बड़ी दीवार रंगी गई, जिसकी विषयवस्तु थी–'हम दो हमारे दो।' तीसरी ब्लॉक कार्यालय की दीवार भी रंगीन हुई। पूरे कस्बे में केवल यही तीन जगहें चटख थीं और मुझपर असर डाल रही थीं। इनसान के बनाये रंगों का ऐसा गहरा प्रभाव मुझ पर छोड़ने का यह पहला वाकया था। रंगों की लीला की गिरफ्त में था मैं। लेकिन अब सोचता हूँ, वह पहला वाकया कतई नहीं था। उन तीन दीवारों के अतिरिक्त समूचा कादीपुर फीका, उदास, धूसर, मटमैला था। ये प्राकृतिक रंग नहीं थे, ये मनुष्यों की हरकत से उपजे रंग–बदरंग थे और धीरे–धीरे मंथर गति से मेरे अंदर उतर गये थे। ये इतने पक्के थे कि आज भी मेरे मन की स्लेट पर अखंडित मौजूद हैं।

कादीपुर में रहते हुए हम लंबी छुट्टियों में, विशेष रूप से गर्मी की छुट्टियों में गाँव जाते। हमारे गाँव का नाम मलिकपुर है, जो कादीपुर से 6 मील की दूरी पर है। हालाँकि अब गाँव जाना बहुत कम हो गया है, लेकिन वह मेरे अंदर ऐसा सुदृढ़ है कि जब मैं गाँव के विषय में पढ़ता हूँ, गाँव पर केन्द्रित कोई लेख अथवा विश्लेषण देखता हूँ या प्रेमचंद, रेणु, बशीर, पन्नालाल पटेल या पोट्टेकाट को पढ़ता हूँ तो इन महान कथाकारों के गाँव के समानांतर मलिकपुर को भी महसूस करता चलता हूँ। यही हाल कादीपुर का, धरती पर कहीं भी स्थित कस्बे का जिक्र हो, कादीपुर चमक उठता है। दूसरी तरह से भी कहूँ, जब भी अपनी रचनाओं में मैं गाँव या कस्बा रचता हूँ, तो उसकी नींव में मलिकपुर कादीपुर की ईंट अवश्य लगी होती है। मेरे जैसे मामूली की बात छोड़िये, वाल्मीकि, तुलसीदास ने जब लंका चित्रित किया होगा या जायसी ने सिंहलद्वीप, निश्चय ही इन काल्पनिक जगहों के रूपवर्णन की पृष्ठभूमि में उनके अपने अनुभवक्षेत्र का कोई अतिपरिचित इलाका अवश्य रहा होगा।

2. आइए, आपको अपनी साहित्य संबंधी रंग–बिरंगी मूर्खताओं की दुनिया की सैर करता हूँ। इस सफर की शुरुआत काफी मुश्किल है; क्योंकि आरंभ के लिए जैसे ही एक मूर्खता को छूता हूँ, संख्य सिर उठाकर चिल्लाने लगती हैं–मैं भी हूँ... मैं भी हूँ। जैसा कि रिवाज है, लेखकों–कलाकारों शायरों से पूछा जाता है कि वे यह बने कैसे?जवाब में कभी गर्दिश, कभी बेवफाई, कभी इश्क, कभी जुदाई वगैरह बताया जाता रहा है। जबकि मेरा उत्तर होगा–मूर्खता। हाँ, मूर्खता ने मुझे लिखने के लिए प्रेरित किया...।

उन दिनों में कक्षा 8 का छात्र था और मेरी एक बुआ के बेटे कक्षा 9 के। उनका नाम भी अखिलेश था। 9 के अखिलेश ने 8 वाले से कहा, इस हफ्ते दशहरे की छुट्टियाँ हैं, चलो दशहरे पर कविता लिखी जाए। किन्तु उस रोज के बाद उनका जो चंद सप्ताहों का कविजीवन निर्मित हुआ, वह अमूमन निम्नलिखित किस्म की शायरी से समृद्ध था–

कदम तुम जो रखती हो, कमर बलखाती ही जाती है
खुदा जब हुस्न देता है, तो नजाकत आ ही जाती है।

फिलहाल 8 का मैं काव्यरचना की उपरोक्त राह का पथिक नहीं हुआ और मैंने सचमुच एक कविता लिख डाली, वह कुछ इस भाँति थी, दशहरे का त्यौहार बहुत ही पावन मंगलमय है, बाद में इसी कविता में दशहरे की जगह कभी दीपावली, कभी होली, कभी रक्षाबंधन रखकर उसे अनेक बार प्रस्तुत किया गया। इस कविता से मेरा हौंसला इतना बढ़ गया कि मैंने सुल्तानपुर के राजकीय इंटर कॉलेज के मंच से गणतंत्र दिवस पर बाकायदा कविता का पाठ किया–गणतंत्र दिवस है पुकार रहा ओ बापू फिर से आ जा! बताने में हर्ज नहीं, आगामी 15 अगस्त को स्थानीय आर्यसमाज मंदिर में मैंने सुनाया–स्वतंत्रता दिवस है पुकार रहा ओ बापू फिर से आ जा! मेरी काव्य प्रतिभा से वहाँ उपस्थित तत्कालीन सुप्रसिद्ध स्थानीय कवि श्रीदूधनाथ शुक्ल 'करुण' जी ने मुझे दो रुपये का पुरस्कार दे डाला। इस सम्मान में मैं इतना अभिभूत हुआ कि सड़क पर बड़े भाई के दिखने पर मैंने दौड़कर उनके पैर छू लिये। उन्होंने सोचा होगा कि छोटा भाई पगला गया है क्या, इसलिए उनके स्वर में चिंता थी, क्या हुआ?

–मुझे कवितापाठ के कारण करुणजी ने दो रुपये पुरस्कार दिया है। उनकी फिक्र खत्म हुई। अच्छा ठीक है तब। इन सफलताओं के बावजूद मैं जल्द ही कविता से अधिक गद्य की ओर उन्मुख हो गया।

सोचने पर लगता है कि गद्य बचपन से मुझे आकर्षित करता था। मुझे गानों–गीतों की तुलना में कहानियों, चुटकुले, गप्पें, लंतरानियाँ, चुगली, निंदा आदि गद्यरूप अधिक प्रेय थे। पद्य के प्रति कम लगाव का कारण यह भी हो सकता है कि मेरे घर क्या पूरे खानदान में किसी के गले में सुर नहीं था। यह दीगर बात है कि मेरे कुल में एक दो ऐसे बेसुरे भी हुए हैं, जो अपने को सुर सम्राट् से कमतर नहीं समझते थे। पुरुष तो पुरुष, कुछ स्त्रियों में भी यह रोग था और उत्सव–पर्व के मौकों पर होनेवाले समूह गायन में वे सगर्व हिस्सेदारी करतीं। मैं निष्पक्षता से कह रहा हूँ कि अपने बेसुरेपन के कारण उनकी आवाज अलग से पहचान में आ जाती थी। वे स्वर को मधुर बनाने के लिए गले को बैठाकर आवाज को पतली करतीं। मेरी माँ ऐसी न थी, वह अपनी आवाज के चरित्र से वाकिफ थी, अतः एकल गायन नहीं करती थी। खैर ये अलग बातें हैं, वास्तविक चीज है कि मुझको पद्य की तुलना में गद्य ज्यादा प्रिय था।

बचपन में पिता, माँ, नाना–नानी सभी मुझे गीत नहीं, कहानियाँ ही सुनाते थे। माँ की कहानियाँ की बुनियाद में दुख रहता था, जो सुखांत में परिणत हो जाता था। मुसीबतों की मारी युवती... कोई अनाथ संतान... या गरीबी की बेरहम मार सह रहा एक परिवार... लेकिन अंततः सुख में रूपांतरण। भाग्य अथवा किसी मनुष्येतर शक्ति की मेहरबानी से समस्त कष्ट खत्म हो जाते थे और जिंदगी की झोली में नियामतें गिरने लगतीं। मेरी माँ की जिंदगी में भी दुख थे। वह गीली लकड़ियों से तमाम मेहमानों के लिए खाना बनते हुए सुलगती रहती, जबकि उसमें अच्छी गृहस्थी के स्वप्न और इच्छाएँ थीं। हालाँकि पिता भी तंगी, संघर्षों और विपरीतताओं की चपेट में थे, किन्तु उनके किस्से दुखमय नहीं मजाकिया रहते, शायद वह मुसीबतों का मजाक बनकर मुसीबतों से भिड़ते थे। वह दैत्यों देवताओं की कहानियाँ सुनाते या गरीबी की, तो उनमें हँसोड़गीरी रहती। महसूस होता है, माँ और पिता दोनों ही अपने–अपने ढंग से समस्याओं का मुकाबला कर रहे थे। माँ का शस्त्र रुलाई था पिता का हास्य।

गाँव में एक चचेरे बाबा थे और शहर सुल्तानपुर में ताई थीं। दोनों हकीकत का दावा करते हुए ऐसे वृत्तांत कहते, जिन्हें गल्प से अधिक हैरतंगेज तथा कुतूहलधर्मी कहा जा सकता है। दोनों भूत–प्रेत, चूड़ैल की सत्यकथाओं का वर्णन करते। बाबा का कहना था कि गाँव में जो बड़का तलाब है, उसमें से प्रतिदिन रात को सोने–चाँदी से भरे घड़े लिये हुए भूत निकलते हैं। उनका एक किस्सा भूतों की नौटंकी के बारे में होता, जिसके अनुसार गाँव में खसहड़ के पास रात को भूत नौटंकी खेलते हैं। इन बाबा की पत्नी यानी मेरी छोटकी दीदी की बतकही अधिक यथार्थवादी रहती–मैं बाग से गुजर रही थी। देखा कि सफेद साड़ी पहने एक ठो चुड़ैल बैठी है। मैंने कहा, कौन ठाँ है रे?बोल काहे नहीं रही है?फिर पूछा कि कौन है रे, बोल काहे नहीं रही है?वह वैसे ही चुपचाप सन्नमन्न बैठी रही। तब हम उठाके ढेला फेंककर मारे उसको, बुजरी चुड़ैल है क्या! तब ससुरी खुरखुर करती हुई भागी और पलभर में गायब हो गयी। साफ–साफ उसके उलटे पैर दीख रहे थे।

ताई उर्फ अम्मा के पास अपने मायके कानपुर के किस्से थे, जिन्हें वह अपनी देवरानी उर्फ मेरी माँ को सुनाती, दुलहिन कानपुर में एक से बढ़कर एक भूत–पिशाच, जिन्नात रहते हैं। एक बार हमलोग कानपुर के रेलवे स्टेशन पर बहुत रात में पहुँचे। घर जाने के लिए ताँगा किये। चला रात में ताँगा, घोड़ा टपटप दौड़ रहा था और ताँगेवान उसकी पीठ पर चाबुक चलाए जा रहा था–छपाक–छपाक! घोड़ा तेज दौड़ा। जब हम घर पहुँचे और ताँगवाले को भाड़ा का पैसा देने लगे, तो यह क्या... ताँगवाले की हथेली उल्टी थी, पैर भी उल्टे... घबड़ाकर उसका चेहरा देखे... आँख, कान, नाक कुछ नहीं, पूरा चेहरा सपाट। मगर वह निहायत शरीफ जिन्नात था। जाते–जाते बोला, इतनी रात को सफर न किया करें, शहर में ढेर सारी आत्माएँ भटकती हैं। बाबा, ताई, माँ, पिता ही नहीं, अनेक थे किस्सों–कहानियों का पिटारा रखनेवाले। किसी के पास पहलवानों के, किसी के पास गुंडों–डकैतों के, जादूगरों–जादूगरनियों के, किसी के पास पड़ोसियों की कथाएँ थीं। कहने का आशय कि हर इन्सान में किस्सागो होता है और हम सभी का बचपन ऐसे कथाकारों से जगमग रहता है, किन्तु जैसे हम बड़े होते हैं, किताबें पढ़ने लगते हैं, धारावाहिकों, प्रबंधकाव्यों, इंटरनेट

आदि की पहुँच में चले जाते हैं या वे हमारी पहुँच में चले आते हैं, हमारे बचपन के अफसानानिगार हमसे दूर होते जाते हैं। लेकिन अगर कोई बड़ा होने पर कथाकार बन गया... कहानियाँ लिखने लगा, तब छुटपन के वे किस्सागो उसकी आत्मा में उतर आते हैं। मैं आज अपनी लिखी हुई चीजों के बारे में सोचने पर पाता हूँ कि उनके रचयिता की जो शैली है, भाषा है, जर्रा–सी जो भी खासियत है, उनकी निर्मिति अकेले उसकी नहीं, उसमें बचपन के तमाम किस्सागो लोगों की छाप है। किसी कथाकार की प्रसिद्धि में तमाम अनाम–गुमनाम लोगों का हुनर सम्मिलित रहता है।

जैसा कि पहले मैंने बताया था कि कक्षा 8 में ही कवि बन गया था, अब उसके बाद की कुछ चीजें उद्घाटित करना चाहता हूँ। मैं कक्षा 9 में विज्ञान का विद्यार्थी हो चुका था, मगर हिन्दी अनिवार्य विषय के रूप में साथ में थी और हिन्दी की पाठ्यपुस्तक के रूप में 'प्रेमचंद की श्रेष्ठ कहानियाँ' किताब हाथ में थी। किसी भी प्रकार के मुद्रित साहित्यिक ग्रंथ से यह मेरा पहला संपर्क था। बेशक उन कहानियों ने गहरा असर डाला था और वैसी तमाम कहानियाँ मैं पढ़ना चाहता था, पर मेरा दुर्भाग्य कि उस तरह का अन्य साहित्य मेरे पास नहीं था। वह कहाँ मिलेगा?वह कहाँ है?कोई बतानेवाला न था। इसलिए मैं उपन्यास पढ़ने लगा। कहना होगा कि जासूसी और रोमांटिक उपन्यासों के संसार में मेरा स्वागत हो चुका था। मेरे बड़े मामा जासूसी उपन्यासों के घनघोर पाठक थे। मैंने उनको जब भी देखा जासूसी उपन्यासों में नजरें गड़ाये देखा। इस चस्के के कारण अक्सर उनकी बस छूट जाती थी या सामान चोरी हो जाता था। वह उस समय की मशहूर बालक छाप बीड़ी फूँकते रहते थे और इब्ने सफी बी.ए., कर्नल रंजीत, ओमप्रकाश शर्मा की कृतियों के पन्ने पलटते रहते थे। उनके एक दोस्त थे शिव प्रसाद, जो गुलशन नंदा, रानू, प्रेम बाजपेयी आदि के भावुक उपन्यासों के दीवाने थे, जिनको कुछ ऐसी शैली में लिखा जाता, उसकी आँखें डबडबा आयीं... आवाज काँपने लगी। उसने थरथराते हुए कहा, मेरे सरताज तुमने आज मेरे दिल के टुकड़े–टुकड़े कर दिये। जब मेरे मामा का जासूसी साहित्य का खजाना खाली हो जाता तो वह अपने मित्र शिवप्रसाद के भंडार से काम चलाते और इस प्रकार उस समय मेरे जीवन में उक्त दोनों ही तरह की रचनाओं की पर्याप्त उपलब्धता थी। अतः मैं अपने घरवालों की इच्छानुसार डॉक्टर, इंजीनियर बनने की जगह एक धोखा खाया, बरबाद आशिक और उच्च कोटि का गुप्तचर बनने की ख्वाहिश करने लगा था। इन सबसे मैं बच सका; क्योंकि मेरे ऊपर अल्लाह की मेहरबानी थी और मेरे शहर सुल्तानपुर में मेहता पुस्तकालय था।

3. हमारा परिवार जब कादीपुर से सुल्तानपुर स्थानांतरित हुआ, मैं पाँच की परीक्षा पास कर चुका था। सुल्तानपुर में जहाँ हम रहने आये, वह भिन्नताओं वाले भारतीय समाज का जैसे एक लघु रूप था। हमारे एक बाजू में किसी व्यवसायी का घर था, दूसरे में चौका–बासन करनेवाली महिला का परिवार रहता था। जिसके बगल में एक मुसलमान कुनबा था, जहाँ पतंगें और लिफाफे बनाना रोजी था। सामने ऊपर के माले पर वकील साहब किरायेदार थे, नीचे सेठ खुद रहते थे। सेठ की सेठानी मुझे उस वक्त की प्रसिद्ध अभिनेत्री मुमताज की तरह लगतीं। सेठानी के पड़ोस में जो घर था, उसमें न जाने कौन– कौन रहता था–एक मजदूर रिक्शावाला, एक सँपेरा, एक भालू का नाच दिखानेवाला। इसी तरह पूरी गली अलग–अलग ढंग के लोगों से गुलजार थी। हम ऊपर की मंजिल पर रहते थे,नीचे मकान मालिक बचऊ सपरिवार रहते हुए टाइपिंग सिखाने का स्कूल चलाते। दिनभर टाइप मशीनों की खटरपटर होती रहती। बचऊ बहुत शराब पीते थे। वह शाम होते ही टाइपिंग स्कूल बंद करके पीने निकल जाते और देर रात धुत लड़खड़ाते हुए लौटते, तब उनकी पत्नी चूल्हे की लुकाठी हाथ में लिये चिल्लाती हुई क्रोध में काफी रात तक लड़ने के लिए तैयार मिलतीं। अतः बचऊ अर्द्धरात्रि के बाद ही सो पाते थे और सुबह सूर्य उग जाने के काफी उपरांत तक सोते। यह परिवेश मेरे लिये बेहद मुफीद रहा; क्योंकि इसके जरिये मैं बहुस्तरीय सामाजिक जीवन से रू–ब–रू था, साथ ही मैं प्रत्यक्ष जीवन से इतर विशाल दुनिया के सान्निध्य में आ रहा था, मैं अखबार के सम्मुख था। तब अखबार की आमद मध्यवर्गीय घरों में आम नहीं थी। हमारे यहाँ भी वह नहीं मँगाया जाता था, पर बचऊ के टाइपिंग स्कूल में उसका प्रवेश था। वहाँ अखबार भोर में आकर लावारिस पड़ा रहता; क्योंकि बचऊ और उनकी पत्नी रात्रि की लंबी कलह के बाद सवेरे देर तक सोते ही रहते थे। एक सवेरे मुझे बाहर निकलना था, देखता हूँ कि अखबार फेंका हुआ है,मैं उठाकर पढ़ने लगा। धीरे–धीरे नित्य का नियम बन गया। मैं सीढ़ियाँ उतरकर आता और अखबार पढ़ने लगता। उसके पृष्ठ खोलता, एक गंध नथुनों में समा जाती, जो ताजा छपे हुए कागज की खुशबू थी। जाने क्या बात थी, मुझको अखबार पढ़ने का जुनून हो गया। मेरे राजकीय इंटर कॉलेज के मुख्य गेट से सटकर कामरेड कोमल की चाय की दुकान थी, जहाँ अनेक अखबार आते। मैं स्कूल खुलने के पूर्व ही वहाँ पहुँचकर अखबार चाटने लगता। वहाँ कम्युनिस्टों और समाजवादियों का जमावड़ा लगता था, जो चाय पीते हुए गर्मागर्म बहसें करते। मैं उन्हें ध्यान से सुनता। ऐसा नहीं कि मैं उन बहसों तथा अखबारों के शब्दों को पूरी तरह समझ रहा था, लेकिन जैसे भी हो, मेरे अंदर बहुत कुछ शामिल हो रहा था, घटित हो रहा था। कितना विरोधाभासी था कि एक ओर समाचारपत्रों के तथ्यात्मक, तार्किक शब्दों से मेरा रिश्ता बन रहा था, तो दूसरी ओर जासूसी, रोमांटिक उपन्यासों का भी मैं उतनी ही लगन से पढ़े जा रहा था। इस अंतर्विरोध से छुटकारा दिलाया मेहता पुस्तकालय ने।

वह समृद्ध पुस्तकालय था। उसके सौजन्य से मैंने प्रेमचंद, यशपाल, जैनेंद्र, अमृतलाल नागर को पढ़ा। सिलसिला आगे बढ़ा, राग दरबारी, मैला आँचल, तमस, आधा गाँव, मुर्दाघर, अलग–अलग वैतरणी हाथ लगे। निर्मल वर्मा, अमरकांत, भीष्म साहनी, मोहन राकेश, कमलेश्वर, मन्नू भंडारी, राजेन्द्र यादव, काशीनाथ सिंह आदि की कहानियाँ भी यहीं मिलीं। नतीजा यह निकाल कि मैं इंटर तृतीय श्रेणी में उत्तीर्ण होने के बावजूद बी.ए. में ज्यादा साहित्यिक और आवारा हो गया था।

थोड़ा ठहरकर मैं अपनी एक अन्य महत्त्वपूर्ण मूर्खता के विषय में बताना चाहूँगा। हुआ यह कि जब एम.ए. करने के लिए मैंने इलाहाबाद में प्रवेश लिया तो गुरूर से अकड़ा हुआ था। क्योंकि उस समय तक मेरी कहानियाँ प्रसिद्ध पत्रिका 'सारिका' में प्रकाशित हो चुकी थीं और बकौल खुद में काफी कुछ पढ़ चुका था। ऐसा अहंकार धारण किये इलाहाबाद में पहली साहित्यिक गोष्ठी में गया। उस गोष्ठी ने मुझे आईना दिखा दिया था। वहाँ मार्क्सवाद, वर्गदृष्टि, रामविलास शर्मा और नवजागरण, मुक्तिबोध ने नये साहित्य का सौंदर्यशास्त्र में कहा, नामवर सिंह, लूकाच, राल्फ फाक्स वगैरह जाने क्या–क्या कहा जा रहा था और सुल्तानपुर का बाशिंदा, मेहता लाइब्रेरी का सदस्य भौचक सब सुन रहा था।

इलाहाबाद का साहित्यिक वातावरण मौलिक था। देशभर में इलाहाबाद की ख्याति इसलिए भी थी कि वह नौकरी संबंधी प्रतियोगी परीक्षाओं का स्वर्ग था। वहाँ के लोग सर्वाधिक कामयाब होते और नौकरी पाते थे। जबकि इलाहाबाद के अधिकतर लेखक नौकरी नहीं करते थे। इस बात की पुष्टि उपेन्द्रनाथ अश्क, नरेश मेहता, भैरव प्रसाद गुप्त, शैलेश मटियानी, मार्कण्डेय, लक्ष्मीकांत वर्मा, रवीन्द्र कालिया, सतीश जमाली जैसे दिग्गजों के दृष्टांत करते थे। इन्होंने नौकरी करी नहीं और यदि कभी की भी तो ठुकराकर स्वतंत्र जीवनयापन कर रहे थे। जो लोग नौकरी कर रहे थे, वे भी एक प्रकार से ड्यूटी नहीं, ड्यूटी का प्रहसन करते। एजी ऑफिस में बहुतेरे रचनाकार सेवारत थे, उनके बारे में लोक विश्वास था कि वे कार्यालय आते ही अपना बैग या कोट या मफलर अपनी कुर्सी पर टाँगकर कविता–कहानी, गीत, गजल सुनने–सुनाने निकल जाते। ममता

कालियाजी सरीखे जिम्मेदारी से नौकरी करनेवाले कुछ अपवादों को छोड़ दें, तो जो नौकरियों में थे और जो नहीं थे, वे लेखन, अध्ययन, काफी हाउस, गोष्ठियों में व्यस्त रहते थे। वहाँ की एक विशेषता यह भी थी कि जो धनी, व्यवस्थित और दुनियावी नजरिये से सफल रहता था। इलाहाबाद उसे हिकारत से देखता। भिड़ना, बरबाद होना और शक्तिकेन्द्रों की खिलाफत करना, उसका मनपसंद शगल था। किन्तु जैसा कि है, किसी भी सामान्य प्रवृत्ति को गौर से देखो तो उसमें भेद तथा उपभेद नजर आते हैं। इलाहाबाद की अखंड दीखती सामान्यता में भी अनेक स्तर और उपस्तर थे। वह उन दिनों कई बड़े–बड़े साहित्यकारों से चमक रहा था। महादेवी वर्मा, फिराक गोरखपुरी, अमृतराय, विजयदेव नारायण साही, रघुवंश, रामस्वरूप चतुर्वेदी, जगदीश गुप्त जैसी शख्सियतें भी वहाँ थीं, मगर उनका आभामडल अन्य तरह का था और नये रचनाकार उनके करीब जाने में संकोच करते। हालाँकि हम अमरकांत, शेखर जोशी, दूधनाथ सिंह, सत्यप्रकाश मिश्र, राजेन्द्र कुमार आदि को भी बहुत आदर देते, लेकिन इनसे हम खूब हिलेमिले रहते थे। इस तरह इलाहाबाद के साहित्यिक परिवेश में एक से बड़े एक थे। ज्यादातर से मेरा सघन परिचय था, फिर भी अमरकांत जी और कालिया जी से अधिक निकटता हुई। कालियाजी का तत्कालीन निवास 370 रानीमंडी, इलाहाबाद (उ.प्र.) मेरा प्रिय स्थल था, जब भी मौका मिलता, मैं वहाँ चला जाता। अक्सर मैं ही रह जाता। कई बार तीन–चार रोज के लिए रुकता, विश्वविद्यालय भी नहीं आता। वह मेरे घर की भाँति था, जहाँ ममता जी, कालिया जी का स्नेह था, उनकी सरपरस्ती थी। लेखन का बेहतरीन प्रशिक्षण था। कालियाजी के ही यहाँ मेरा अमरकांतजी से परिचय हुआ। तब वह शाम को प्रायः ममता जी, रवीन्द्रजी के यहाँ आते थे। यदि मैं वहाँ हुआ तो लौटते वक्त मैं भी अमरकांत के साथ हो लेता। उनसे बात करता, उन्हें सुनता हुआ, गुनता हुआ, साथ चलता हुआ उनके घर तक चला जाता था। मेरे कुछ महीने इलाहाबाद के पत्रिका समूह मित्र प्रकाशन प्रकाशन में बीते। तब मैंने यहाँ से छपनेवाली माया पत्रिका में काम किया। अमरकांत जी यहाँ की मनोरमा पत्रिका का संपादन करते थे। शाम को हम दोनों दफ्तर से एक साथ निकलते और बड़ी देर तक मैं अमरकांत जी को साहित्य, समाज,संस्कृति, राजनीति, जिंदगी आदि के विषय में बोलते हुए सुनता। अनेक कहानियों, उपन्यासों के संबंध में उनकी व्याख्याएँ अचूक और अद्वितीय थीं।

विश्वविद्यालय में दूधनाथजी को सुनना भी विरल अनुभव था। जब वह क्लास में पढ़ाते, गोया वह कम ही पढ़ाते थे, तो हम विद्यार्थी मंत्रमुग्ध उनके शब्दों को अभ्यंत्रीकृत करते। उनकी मीमांसा, उनकी आलोचनात्मक भाषा, उनका निःशस्त्र रचना में दाखिल होना... सब इतना प्रभावपूर्ण कि शिष्य जितना हासिल कर लेते, उतना कई किताबें पढ़कर प्राप्त नहीं हो सकता था।

इलाहाबाद ..... अब मैं ऊबने लगा हूँ और ज्यादा मुमकिन है कि आप भी ऊब रहे होंगे। बहरहाल मेरी ऊब की वजह यह है कि अपने बारे में अधिक वक्त तक कहते और सुनते हुए प्रत्येक आदमी को ऊबना ही चाहिए। खुद के विषय में ज्यादा समय तक सुनते हुए मैं झेंपने लगता हूँ तथा अधिक देर तक स्वयंचर्चा करते हुए मेरी जबान शिथिल पड़ने लगती है। लेकिन जब किसी लेखक को सृजनात्मक लेखन करना हो तो क्या होगा?सारी तासीर बदल जाएगी। कहानी या उपन्यास जब लिखा जाता हो, तो उसमें लेखक अपने को जरूर और विस्तृत व्यक्त करता है। यह व्यक्त करना दो तरह से होता है–एक वह निज के जीवन के तजुर्बों जिसे आपबीती कहते हैं, को रचता है। इस कड़ी में वह अपनी संवेदनाओं विचार को भी जबान देता है। दो कथाकार दूसरों की दास्तान लिखता है, पर वहाँ भी स्वयं के बारे में कह रहा होता है, किन्तु यह भिन्न ढंग से निर्मित होता है। वह अपने पात्र में अवतरित होता है। वह शैतान, देवता, गरीब, जुलाहा, कामिल, उपदेशक सभी कुछ बनने में समर्थ होता है। यहाँ तक कि स्त्री कथाकार होकर पुरुष के संसार में दाखिल हो सकता है। इसी तरह वह पुरुष हुआ तो स्त्री के संसार में। इसे बाबा नागार्जुन कविता में यूँ रखते हैं, कालिदास सच–सच बतलाना अज रोया और तुम रोये थे। ऐसे ही प्रेमचंद ने रंगभूमि उपन्यास में सूरदास को चित्रित किया, तो वह खुद एक अंधे मनुष्य में तब्दील होकर समस्त घटनाओं को भुगतते हुए उस कृति को रच रहे होंगे। प्रेमचंद निर्मला में स्त्री बने होंगे और कफन में घीसू भी वही थे और माधव भी। गोदान में प्रेमचंद को होरी, धनिया, गोबर, झुनिया, राय साहब, मालती, दातादीन, मातादीन सभी बनकर समाज की कथा कहनी पड़ी थी। एक रचनाकार इनसान ही नहीं पेड़, पर्वत, परिन्दे, वस्तुएँ समस्त में कायांतरित हो जाता है और जब वह किसी की गाथा कहता है तो एक तरह से अपनी भी गाथा कहता है। कहा जा सकता है कि लिखना समाज को अभिव्यक्त करने के साथ अपने को रचना और व्यक्त करना भी है। श्रेष्ठ कृति एक नहीं, अनेक तत्त्वों के सम्मिलन से आकार पाती है। संभवतः इसीलिए उत्कृष्ठ कृतियाँ अपनी एक उल्लेखनीय विशेषता के बगैर भी महत्त्वपूर्ण बनी रहती हैं। जैसे रेणु के मैला आँचल को उसकी स्थानीयता के इन्द्रियबोध से अलगाकर पढ़ा जाए तो भी वह आजादी के मूल्यों की पतनगाथा, जाति व्यवस्था के दमनकारी भेद और अद्‌भुत चरित्रांकन के कारण यादगार महसूस होगा। अथवा बाद के किसी तत्त्व को हटा देने पर वह शेष एवं आंचलिक इन्द्रियबोध की वजह से अमर रहेगा। श्रीलाल शुक्ल की औपन्यासिक कृति रागदरबारी विलक्षण व्यंग्यात्मकता से इतर गैर रूमानी दृष्टिकोण और भारतीय लोकतंत्र के क्षरण के महाआख्यान के कारण अमिट रहेगा। लेकिन यही कसौटी क्या अज्ञेय, निर्मल वर्मा, विनोद कुमार शुक्ल के साहित्य पर भी लागू करने पर उनकी कृतियाँ अपनी जगह पर बरकरार रह पाएँगी! इनकी रचनाओं को काव्यात्मकता, लालित्य के कवच से निकलकर यदि साधारण भाषा में दिया जाए, वे मामूली लगने लगेंगी। इस पैमाने पर अगर कुछ चर्चित यथार्थवादी रचनाओं से उनका यथार्थवाद या उनका चरित्रचित्रणवाद या विचारधारावाद या शोधवाद छीन लिया जाए तो शायद और ज्यादा हीनतर संरचना में वे फिसल जाएँगी।

5. इलाहाबाद विश्वविद्यालय में सर्वश्री रघुवंश, जगदीश गुप्त, रामस्वरूप चतुर्वेदी, दूधनाथ सिंह, सत्यप्रकाश मिश्र आदि के साथ राजेन्द्र कुमारजी भी मेरे शिक्षक थे। वह अभिप्राय नाम की साहित्यिक पत्रिका निकालते थे। लेखन से जुड़े छात्रों पर उनका बेहद स्नेह रहता था। ऐसे छात्रों के लिए उनका घर तीर्थ हुआ करता था। एक दिन की बात है, मैं उनके घर से लौट रहा था। उन्होंने पूछा, यहाँ से कहाँ जाओगे?मैंने बताया, अमरकांत जी के यहाँ जाना है। राजेन्द्रजी ने निर्देश दिया, अमरकांत जी को प्रयोजन के लिए कहानी देनी है, तैयार हो गयी हो तो लेते आना।

अमरकांत के यहाँ से वापस आते समय मैंने कहानी के बारे में पूछा। उनका जवाब था, कहानी तैयार है, बस शीर्षक नहीं रखा गया है। पाँच मिनट रुको, रख देता हूँ। मुझको लगा, देर तक बैठना पड़ेगा। आखिर शीर्षक रखना वाकई कोई पाँच मिनट का काम तो है नहीं। मैं स्वयं शीर्षक रखने में काफी समय लेता था और जतन करता कि वे आकर्षक, दीर्घ कुतूहलपूर्ण हों। देखा, अमरकांत जी कहानी का नामकरण कर रहे थे। वह कहानी के पृष्ठों पर सरसरी निगाह डालते हुए हल्की आवाज निकाल रहे थे, जिसे बड़बड़ाहट, निरर्थक ध्वन्यात्मकता या अस्पष्ट शब्दोच्चार जैसा कुछ कहा जा सकता था। उन्होंने अं...अं....अं सरीखा कहते हुए अचानक कहा, मिल गया। उन्होंने पाँच मिनट से पेश्तर कहानी का शीर्षक कबड्डी रख दिया था। उनकी इस कला में इतना प्रभावित हुआ कि भविष्य में लगभग इसी विधि से अपनी रचनाओं के नाम तय करने का प्रयत्न करने लगा।

रचना के जीवन में उसके शीर्षक की क्या भूमिका होती है?इनसानों के नाम और रचनाओं के शीर्षक क्या समानधर्मा होते

हैं?आदमी का नाम जब रखा जाता है या पाठशाला में लिखाया जाता है, तो उसकी शख्सियतें, उनके गुण, लक्षण विकसित नहीं हुए होते हैं, इसलिए प्रायः लोगों के नाम में उनकी शख्सियत की छवि, उनके होने का अर्थ नहीं निहित रहता है। दरअसल नाम क्या है, एक निशान है परिचय की सुविधा प्रदान करने के लिए, व्यक्ति को वैधानिकता प्रदान करने के लिए। लेकिन रचना के नाम में उस रचना का अर्थ शामिल होता है या कम से कम शीर्षकों से ऐसी अपेक्षा की जाती है कि वे रचना की काया की छाया बनें। ऐसे शीर्षक रचनाविरोधी होते हैं, जो रचना का समूचा रहस्य खोल देते हैं या रचना में क्या होगा, इसकी तुरंत मुखबिरी करने लगते हैं। घोर वैचारिक आग्रहों वाली और लबालब भावुकता वाली कथाओं के शीर्षक प्रायः ऐसे ही होते हैं।

कुछ लेखक रचना आरंभ करने के पहले उसका शीर्षक निश्चित कर देते हैं, जो रचना समाप्त कर चुकने के उपरांत शीर्षक की तलाश करते हैं। रचना के नामकरण की ये दो भिन्न पद्धतियाँ क्या रचना के स्वरूप को प्रभावित करती होंगी?पहले ही तय कर लिया गया शीर्षक क्या अपनी रचना के विकास को गतिरुप करता है?क्या वह रचनाकार को अपना गुलाम बना देता है कि मुक्त होकर उड़ान न भर पाये वह?वह बेड़ी तो नहीं, जिसकी गिरफ्त में फँसी हुई रचना अपनी आजादी थोड़ी ही सही खो देती है?इसीलिए कई लिखनेवाले लिखने के पूर्व शीर्षक रख तो लेते हैं, मगर समापन के बाद उसे बदल देने के लिए विवश हो उठते हैं।

प्रेमचंद की परंपरा का वाहक होने की सामर्थ्य मुझमें कतई नहीं है, किन्तु शीर्षकों के स्वरूप के मामले में मैं उनकी विरासत से जुड़ने की कोशिश अवश्य कर रहा हूँ।प्रेमचन्द की अधिसंख्य रचनाओं के शीर्षक प्रायः एक शब्द के हैं—वरदान, सेवासदन, प्रेमाश्रम, रंगभूमि, कायाकल्प, गोदान, निर्मला, कर्मभूमि, कफन, सद्गति, मंत्र, निमंत्रण, ईदगाह, लाटरी, जुलूस. ..।

6 . आजकल सुविधा है कि कुछ लिख चुकने के पश्चात् लोगों की प्रतिक्रिया के लिए, रायशुमारी के लिए सैकड़ों को ई–मेल कर दें, फेशबुक या ब्लॉग पर डाल दें, पर मैं तब की बात सुना रहा हूँ, जब मैं इलाहाबाद में था और रचना सुना–सुनाकर प्रतिक्रिया, सलाहें जानी जाती थीं। यह इतनी स्वीकार्य गतिविधि थी कि महत्त्वपूर्ण वरिष्ठ साहित्यकार भी नये रचनाकारों को रचना सुनाते और नये तो खैर उनको सुनाते ही थे।सुनने–सुनाने में दीर्घ आकार की रचनाओं से परहेज न करते हुए उनको भी पाठ और श्रवण का सम्मान दिया जाता था।रचनापाठ दो प्रकार से होता था– 1 . गोष्ठियों आदि में समूह के सम्मुख, 2 . व्यक्तिगत रूप से किसी के सामने। दूसरी तरह का वाचन भी कम नहीं था। मैंने खुद अपनी कहानियाँ, जो उन दिनों लिखी थीं और जाहिर है कि काफी खराब थीं, अमरकांतजी, शेखरजी, भैरवजी जैसे शिखर स्तंभों को सुनायी थीं।कालियाजी के यहाँ अतिरिक्त लाभ रहता कि ममता जी भी, दो बड़े लेखक सुनने के लिए मिल जाते। जैसा कि मैं बता चुका हूँ कि यह एकतरफा नहीं, दोतरफा मामला होता था। हम युवा ही नहीं सुनाते थे, ऊपर जिन कथाकारों का इस प्रसंग में जिक्र किया गया है, उनने मुझको भी अपनी रचनाएँ गाहेबगाहें सुनायी थीं, तो यह करीब–करीब बराबरी का, लोकतांत्रिक क्रियाकलाप था।

एक बार मैंने एक दोस्त के सामने अपने लिखे जा रहे पहले उपन्यास अन्वेषण के एक अंश को पढ़ा। अन्वेषण को लिखते हुए मैंने भाषा के स्तर पर खुद को बदला था और इस बात को लेकर खुश था। मित्र ने सराहा, किन्तु कहा, सृजनात्मक भाषा को रचना चाह रहे हो, मगर यह बताओ कि फिर ये क्यों लिख रहे हो?वह गुस्से में काँपने लगा या यह कि शर्म से उसका चेहरा लाल हो गया या उसके चेहरे पर हवाइयाँ उड़ने लगीं। इस तरह लाखों लोगों ने कितने लाख बार कहा, लिखा होगा। असंख्य बार इस्तेमाल होते–होते अब इनमें भाव प्रकट करने की शक्ति पहले जैसी नहीं रही।चलते–चलते घिस गये हैं ये शब्दप्रयोग।

अभिव्यक्ति के लिए प्रदत्त मुहावरों पर निर्भर होने के बजाय तुम्हें नवीन शब्दधर्मिता पर परिश्रम करना चाहिए कोई शब्द लिखो तो लगे कि वह अभी–अभी जन्मा है, केवल तुम्हारे आशय को जन्म देने के लिए। फिलहाल रूढ़ हो चुके शब्दों, मुहावरों का तुम्हारा चयन मुझको खाद्य पदार्थ के बीच में कंकड़ की तरह लग रहा है। दोस्त ने खाद्य पदार्थ के बीच में कंकड़ कहकर स्वयं एक पिटा हुआ मुहावरा प्रयुक्त किया, किन्तु इस गुस्ताखी के लिए मैंने उसको माफ कर दिया; क्योंकि भाषा को लेकर उसके विश्लेषण ने मुझमें विकट खलबली पैदा कर दी थी। मैं सोचने लगा, क्या ऐसा हो सकता है कि शब्द एक ही इरादे से, वाक्य में एक ही जगह पर एक ही तरीके से इस्तेमाल होते–होते ऊब जाते हों और समुचित या अपेक्षित अर्थ देने से इनकार कर देते हों। आखिर ऊबना किसी भी संवेदनशील अस्तित्व का गुणधर्म है और शब्द तो सबसे अधिक संवेदनशील और संवेदनजनक होते हैं। शब्दों को सर्वाधिक बार प्यार करनेवाले यानी लेखक समुदाय के लिए भी ऊबना उसकी सृजनशक्ति हेतु प्राणवायु है। जरूरी है कि लेखक ने लेखन के जिन तत्त्वों से सफलता पायी है, अपनी जिन खूबियों के चलते उसने कामयाबी हासिल की है, उन्हें बार–बार दोहराने के बजाय वह उनसे ऊब जाए। अपनी सिद्धियों से, अपनी जीत के औजारों से ऊबने का अर्थ है, उन्हें छोड़कर आगे बढ़ जाने का साहस दिखाना–रचना के संसार में एक बार फिर से निहत्था हो जाना, पुनः नई सिद्धियों, सृजन और कला के नवीन उपकरणों को आविष्कृत करने के मकसद से। अपने समय की रचनात्मकता से गहरी ऊब महान् रचयिता को जन्म देती है। ऊबकर उससे भिन्न रचने की प्रक्रिया में वह श्रेष्ठता की सीढ़ियाँ चढ़ता है।

अपने आरंभिक दौर में किसी साहित्यिक भाषा का अभिधा रूप भी संप्रेषण के लिए प्रबल सक्षम होता है, किन्तु समाज और साहित्य में होनेवाली बार–बार की पुनरावृत्तियों, असंख्य दोहराव उसके सामर्थ्य को निस्तेज कर देते हैं, तभी भाषा की लक्षणा एवं व्यंजना स्वरूप प्रकट होते हैं। मुहावरे, कहावतें आदि इसी इरादे से ईजाद किये गये होंगे। जैसे अत्यधिक क्रोध के लिए अभिधात्मक वाक्य बना–वह बहुत क्रुद्ध हुआ। ज्यादातर लोग बहुत क्रोध की भावदशा को ऐसे ही बताएँगे, मगर यह ढंग प्रयुक्त होते–होते ढर्रा बन गया, इतना रगड़ खा गया कि पहले जैसा प्राकृत, अर्थप्रसूता नहीं रह गया होगा। वह अपनी मौजूदगी से पहले की भाँति गुस्से में आये इनसान की छवि नहीं उभार पा रहा होगा, तभी दूसरी तरह से कहने का चलन हुआ और मुहावरे में कहा गया–वह क्रोध से काँपने लगा या गुस्से से आगबबूला हो गया। बेशक ऐसे में अर्थ का विस्फोट सरीखा हो गया होगा, किन्तु यह भी बारंबारता वाले हर प्रयोग की भाँति अंततः रूढ़ि में स्थिर हो चला। अच्छे लेखक इसीलिए लिखते समय परिपाटीगत भाषा में विक्षोभ पैदा कर देते हैं, जिसको हमारे आलोचकगण आजकल तोड़फोड़ कह रहे हैं। कहने–सुनने में अच्छा लगता है कि उम्दा रचनाकार वह है, जो बोल–चाल की भाषा में लिखता है, मगर यकीन मानिये, शानदार लिखनेवाले प्रचलित भाषारूप की हू–ब–हू नकल नहीं करते। वे उसे अंगीकार जरूर करते हैं, लेकिन फिर उसे खरीद पर चढ़ाते हैं। उसे नई शक्ल और चमक देते हैं। उनका चमत्कार यह रहता है कि पाठक को उनकी कीमियागीरी का बिलकुल अहसास नहीं हो पाता। उसे तो प्राकृत, निश्छल, आमफहम ही महसूस होता है। वैसे वह भी क्या चमत्कार, जो चमत्कार जैसा लगे।

बोलचाल की भाषा से याद आया, पहले मुझको कथोपकथन लिखने में कठिनाई का अनुभव होता था। मुझको अपने लिखे संवाद फीके ओर उबाऊ लगते। लिखने का आनंद वर्णन में ही मिलता। बाद में मैंने अपने शिक्षक और सुप्रसिद्ध साहित्यकार दूधनाथ सिंह के विचार जाने, जिसका आशय यूँ था– जब संवाद लिखो तो दूसरे पात्र का संवाद पहले का जवाब भर नहीं होता, वह अपने आप में स्वतंत्र अर्थ की सृष्टि भी करे। एक संवाद अगले वाले का जनक या पूर्ववर्ती का पूरकमात्र न होकर खुदमुख्तार संरचना

होता है और आत्मनिर्भर आशय की सृष्टि करता है। मैं इसे आगे बढ़ाना चाहूँगा : कथोपकथन ही नहीं, संपूर्ण रचना में कोई वाक्य, कोई शब्द पूर्ववर्ती का अनुचर न हो, उसकी हाँ में हाँ मिलाने का काम न करे। हर शब्द, हर वाक्य को अपनी गरिमा की दीप्ति से चमकना चाहिए। रचना में शब्दों की भूमिका उस दौड़ के धावकों की तरह रहनी चाहिए, जिसमें एक धावक दौड़ते हुए आता है मशाल दूसरे को थमा देता है।

7. इलाहाबाद में जनवादी लेखक संघ ने गोष्ठियों का सिलसिला शुरू किया था। ये गोष्ठियाँ सभागृहों में न होकर लेखकों के घर में होतीं। कभी किसी, कभी किसी लेखक के घर में। पच्चीस–तीस लोग तक एकत्र हो जाते थे, जिनमें महारथी, नवोदित सभी तरह के प्रतिभागी रहते, जो रचनापाठ के उपरांत बेमुरौव्वत विचारोत्तेजक बातें करते। ऐसी ही एक गोष्ठी दूधनाथजी के कासिल्स रोड वाले मकान में हुई। इसमें प्रख्यात कथाकार लेखकर जोशी को अपनी कहानी सिनारियों का वाचन करना था। फिर आरंभ हुई सिनारियों पर केन्द्रित बातचीत। वहाँ भैरव प्रसाद गुप्त जी भी उपस्थित थे, जो अपनी निरावरोध टिप्पणियों और कड़वी जबान के लिए राष्ट्रव्यापी विख्यात थे। उनकी आक्रामकता का अंदाजा इससे लगाया जा सकता है कि कामरेड हरिकिशन सिंह सुरजीत हों या नामवर सिंह हों, भैरव जी नरम नहीं पड़ते थे। वह किसी को फटकार लगा सकते थे, किसी को डाँट लगा सकते थे। तभी उनके लोग उनको पीठ पीछे सोंटा गुरु की उपाधि से विभूषित करते।

उपरोक्त गोष्ठी में भैरवजी ने कई मुँहफट बातें बोलीं और यह भी कहा, यह आइडिया पर निर्भर कहानी है। ऐसी कहानियों में अंत लेखक के दिमाग में पहले आ जाता है। शेष रचना अंत का अनुगमन है। इस प्रकार ये अंत का पीछा करती हुई कहानी है। यहाँ अंत है, बाकी सब अंत की सजावट है।

स्पष्ट है कि इस तरह की रचनाशीलता को वह खारिज कर रहे थे। सिनारियो वाकई ऐसी कहानी था या नहीं थी, यह अलग से बहस का विषय है; क्योंकि गोष्ठी में कुछ लोग मेरे सहित अलग राय रखते थे। जो भी हो, यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि भैरव जी बेहद खास बात कह रहे थे। वैसे उन्होंने स्वयं अनेक ऐसी रचनाएँ दी हैं, जो आइडिया न सही, लेकिन किसी विचार या विचारधारा का अनुगमन करती हुई रचनाएँ हैं। यह कहना तो बहुत कठोर होगा कि दुनिया में अनगिनत ऐसी रचनाएँ होंगी, जिनमें सामाजिक यथार्थ को आइडिया, विचारधारा, शिल्प, कलाकारी या भाषिक चमत्कार की सेवा टहल में लगाया गया होगा। मंटो, मोपांसा, ओ हेनरी की भी अनेक कहानियाँ अंत का पीछा करती हुई रचनाएँ हैं, जो अंत पर मुनहसिर कथाएँ हैं। इनके अंत को यदि हटाकर पढ़े तो वे संभवतः वैसी शक्तिमान नहीं रह जाएँगी।

महान् कृतियों का प्राण किसी एक अंश में बसा हुआ नहीं होना चाहिए। वह कृतित्व की समग्र काया में व्याप्त हो।

8. उन गोष्ठियों में, जो किसी घर की फर्श पर दरी–गद्दा बिछाकर होती थीं, प्रायः रचना के शिल्प पर चर्चा नहीं होती थी। तब अमूमन शिल्प पर वार्ता किसी का तिरस्कार करने के उद्देश्य से की जाती थी कि अमुक लेखक शिल्प के चक्कर में फँस गया है और अब तो उसकी गई भैंस पानी में। जनवादी लेखक संघ, जिसका मैं भी एक सदस्य था, मार्क्सवादी प्रगतिशील लेखकों का संगठन था और इस समुदाय में उन दिनों चतुर्दिक यह धारणा प्रसारित थी कि शिल्प की कोई भूमिका नहीं होती और यथार्थ अभिव्यक्त होने की प्रक्रिया में अपने लिए जरूरी शिल्प तैयार कर लेता है। यूँ निष्पत्ति यह थी कि कथ्य एवं शिल्प में द्वन्द्वात्मक संबंध रहता है। लेकिन यदि द्वन्द्वात्मक रिश्ता है तो फिर कथ्य अपनी शक्ति से शिल्प को प्रभावित करता है, तो शिल्प को भी कथ्य पर असर डालना ही चाहिए। उसकी संरचनाओं से भी कथ्य की सूरत कुछ न कुछ परिवर्तित हो ही जाती होगी। मगर दूसरे पक्ष को स्वीकृति देने का माहौल न था। क्या सचमुच ऐसा होता है?क्या यथार्थ शिल्प की शक्ल तय करने का सर्वाधिकार अपने पास रखता है या जैसा पहले कहा कि शिल्प भी कभी–कभार यथार्थ के चेहरे का निर्माता हो सकता है?मैं इस प्रश्न को यथार्थ और भाषा के अंतरसंबंध पर भी लागू करने की आवश्यकता महसूस करता हूँ। इससे बिलकुल इनकार नहीं कि लेखक के लिए आला दर्जा कथ्य का ही होता है या यूँ कहूँ कि होना चाहिए। वह अभागा और नकली रचनाकार है, जिसकी रचना का बुनियाद स्रोत शिल्प अथवा भाषा है। यानी कि पहले उसकी चेतना में एक शिल्प या कोई भाषिक रूप आये, जिसको सजीव करने हेतु उसे एक अदद कथ्य की दरकार हो। संसार नानाविधि जीवों से समृद्ध है, तो ऐसे भी साहित्यकार मिलेंगे ही। लेकिन लेखक के लिए नैसर्गिक, उचित और सृजनोपयोगी यही है कि उसके मनोपट पर पहले कोई तथ्य आता है।

जब मैं कहानी, उपन्यास या सृजनात्मक गद्य में से कुछ लिखता हूँ, तो हमेशा यह घटित हुआ कि मैं प्रारंभ के पृष्ठों को बार–बार लिखता और रद्द करता हूँ। वैसे लिखने और पुनः लिखने की पद्धति सदैव चलती रहती है, लेकिन शुरुआत में यह बहुत ज्यादा रहता है। अजीब है, मेरे पास कहने को होता है और उसे लिख डालने के लिए वक्त रहता है... पूरा उपक्रम करता हूँ, फिर क्यों विफल होता रहता हूँ औ खुद के लिखे को काटते, खारिज करते, कूड़ेदान में फेंकते एक क्षण आता है, जब ड्राफ्ट बनने लगता है और अहसास होता है कि मैं यथार्थ और संवेदन की अभिव्यक्ति कर सकने में कामयाब हो सकूँगा। आखिर यह कौन–सी चीज थी, जिसकी मुझे तलाश थी और उसकी नामौजूदगी में शिकस्त मिल रही थी और जिसके हासिल होते ही लिखने की राह आसान हो गयी?वह शिल्प और भाषा थी।

थोड़ा अनिश्चयपूर्वक ही सही, कहना चाहूँगा : शिल्प और भाषा भी यथार्थ के स्वरूप में कमोबेश दखल देते हैं। दुनिया की जो कालजयी कृतियाँ हैं, वे अन्य रूपविधान या अन्य भाषिक संरचना में लिखी गयी होतीं, तो निश्चित रूप से हमारी आत्मा पर उनके यथार्थ, विचार और भावनाओं का यही छाप न रहता।

शिल्प और भाषा फंदा की तरह है। रेडीमेड स्वेटरों का युग आ गया है, वर्ना एक जमाने में माँ–बहनें, पत्नियाँ, प्रेमिकाएँ अपने प्रियजन के लिए स्वेटर बुनती थीं। ऊन के रंग–बिरंगे मुलायम गोले या लच्छे होते थे और नौ, दस, ग्यारह वगैरह नंबरों की सिलाई होती थीं। स्त्रियाँ स्वेटर तैयार करने–बुनने के लिए ऊन और सलाइयों के सहमेल से सबसे पहले फंदा डालतीं। फंदा तय करता था कि रंगीन मुलायम ऊन से कैसा स्वेटर बनेगा। यही नियम दस्तानों, मोजों, गुलूबंद आदि पर भी लागू होते। लेखक के पास भी यथार्थ संवेदना, विचार, भावों इत्यादि के गोले लच्छे होते हैं और वह फंदा डालता है....।

9. एक दिन कादीपुर, सुल्तानपुर की तरह इलाहाबाद भी छूटा। पहले भी इलाहाबाद छूटता था, लेकिन वह दुबारा शरण दे देता। पढ़ाई पूरी होने के बाद उससे बिछुड़ा तो जल्द ही विभूति नारायण रायजी ने मौका दिया। उनके सौजन्य से निकलने जा रही मासिक पत्रिका वर्तमान साहित्य का संपादक उन्होंने मुझको बना दिया। मैं एम.ए. पास करके अभी निकला ही था और मुझे संपादन का अनुभव भी नहीं था, अतः तमाम लोगों की तरह मुझे भी हैरत हुई कि राय साहब ने क्या सोचकर इतना भरोसा किया। बहरहाल राय साहब संबंध बनाने और निभाने के मामले में सदैव बेजोड़ रहे हैं। अगली बार छूटा तो माया प्रेस की नौकरी के बहाने में फिर वहाँ पहुँचा। कदाचित छह महीने भी नहीं बीते होंगे कि वहाँ से त्यागपत्र देकर मैं अपने घर सुल्तानपुर आ गया। अब दुबारा इलाहाबाद से जुड़ने की संभावना नहीं थी, मगर संयोग देखिये, लखनऊ स्थित उ.प्र. हिन्दी संस्थान में मुझे नौकरी मिली, तो कहा गया कि फिलहाल इलाहाबाद में काम करना है। पर यह जन्नत लगभग एक साल की थी, हिन्दी संस्थान के मुख्यालय बुला लिया गया और मुझे लखनऊ आना पड़ा। अबकी छूटा, तो फिर छूट ही गया इलाहाबाद।

सुसंभाव्य

कादीपुर, सुल्तानपुर, इलाहाबाद तीनों जगहें छूटे, लंबा अर्सा बीत चुका था। वैसे बीच–बीच में मैं वहाँ जाता हूँ, लेकिन मैं जल्द ही ऊब जाता हूँ। वे जगहें अब मुझे लुभाती नहीं हैं। शायद इसलिए कि जो मेरा कादीपुर सुल्तानपुर इलाहाबाद था, वह अब नहीं रहा। सुल्तानपुर में मेरे पिता–माँ की पीढ़ी का एक भी स्त्री–पुरुष जीवित नहीं हैं। इलाहाबाद में महादेवी जी, अमरकांतजी, भैरवजी, लक्ष्मीकांत जी, मटियानीजी, मार्कण्डेयजी, अश्कजी, नरेश मेहताजी, सत्य प्रकाशजी, जगदीश गुप्तजी, साही साहब, फिराक साहब, रामस्वरूप, चतुर्वेदीजी, रामकमल राय साहब, विद्याधर जी, केशवचन्द्र वर्माजी, जो दिवंगत हो गये। मेरा इलाहाबाद और सुल्तानपुर–कादीपुर तो इन लोगों से भी पहले मिटने लगा था। वह जो मेरा था, अब मेरा नहीं रहा; क्योंकि वह वैसा नहीं है। किन्तु वह मेरे भीतर अभी भी है, उसी तरह जीता जागता और धड़कता हुआ। लिखने की धुरी भी ऐसे ही बनाती है, आपके भीतर किसी समाज, देश, आदमी, स्थान, मनुष्यता का कोई स्वप्न, बिम्ब, स्मृति, कल्पना या यथार्थ होता है, मगर बाहर उसकी अनुपस्थिति उसका अभाव रहता है। इसी टकराहट से कहानियाँ, कविताओं,उपन्यासों आदि में शोक, संघर्ष, तनाव, विडम्बनाएँ और द्वन्द्वप्रकट होते हैं

मगर जो आपके अंदर है, यदि आप सावधान हुए, वह नष्ट भी करता है, रुग्ण बनाता है। चाहे जिंदगी हो या साहित्य, आप किसी आत्यंतिक छवि, विचार या उम्मीद से मोहग्रस्त रहे और जो नया आपके नजदीक आने के लिए छटपटा रहा है, आपमें बसने के लिए चला आ रहा है, उस सबको अनदेखा किया, पुराने से ही अनुकूलित रहे तो फिर अंधकूप में गिरना होगा।

जिस भी नई जगह जाओ, नए इनसान से मिलो, नए विचार और नई कला के बीच से गुजरो तो उसे देखो, समझो। उसे प्यार और स्वीकार और इनकार करना सीखो, उसपर एतबार और संदेह करो।

ग़ज़ल

अभिनव अरुण
निरालानगर महमूरगंज
वाराणसी, 9415678748

अँधेरी रात है किरणें सुबह की लाओ भी
सितारों स्वप्न सुनहरे मुझे दिखाओ भी
भला भला सा मुहूरत निकल जन जाए कहीं
उनींदे सूर्य को शबनम छिड़क जगाओ भी
निकल के आओ कभी यादों के घरौंदे से
उबलती धूप में साँकल कभी बजाओ भी
फ़लक का प्यार है पर्वत से गिर रहा झरना
उदास क्यों हो ज़मीं तुम नज़र उठाओ भी
हमें यकीन है तुम बेवफ़ा नहीं लेकिन
हमारे वास्ते छत पर निकल के आओ भी
नज़ारे देख रहा है ज़माना उल्फ़त का
हमारा नाम लिखो रेत पर मिटाओ भी
नहीं है हित में किसी के कि नाव तट पे रहे
भँवर का एक नया सिलसिला चलाओ भी
मैं चाहता हूँ ग़ज़ल में ज़िगर का खून भी हो
मुझे रकीब से मेरे कभी मिलाओ भी
सियाह रात में देखो नक़ाब को हटते
कभी चिराग जलाओ कभी बुझाओ भी।

ज़मीं अपने बदन पर कुछ भी ओढ़ा नहीं करती
बनाकर चाँद तारे सीने पर सौदा नहीं करती
उसे गिर गिर के उठने का हुनर भी खूब आता है
दीये की लौ हवा के ज़ोर से टूटा नहीं करती
मदारी देखने का शौक़ इसको है बहुत लेकिन
ये जागी कौम है सिक्के कभी फेंका नहीं करती
मियाँ तुम भी यहाँ अहदे वफ़ा की बात करते हो
तवायफ़ एक की खातिर कभी मुज़रा नहीं करती
सफ़र में सैकड़ों घाटों सें मिलना उसकी फ़ितरत है
किसी तटबंध से कोई नदी वादा नहीं करती
कभी लोबान की खुशबू को मुट्ठी में लिया तुमने
इबादत भी बुतों का रास्ता देखा नहीं करती
मनाने के लिए उसको कई दोनें पहुँचते हैं
सड़क की कोई पगली रात को फ़ाका नहीं करती
तेरी तहज़ीब के पत्थर उधर जाने से बचते हैं,
वो पगली खिलखिलाती है कोई शिकवा नहीं करती।
कोई अपना दिखे तो और भी अनजान बनती है,
मुहब्बत में ज़माने के लिए किस्सा नहीं करती।
नियति को मानकर गंगा जहाँ के पाप धोती है,
वो खुद के पाक़ होने का कोई दावा नहीं करती।
ठगे जाओगे तुम बाज़ार से वाकिफ़ नहीं अभिनव,
तुम्हारे सामने वो इसलिए चेहरा नहीं करती।

भेंट वार्ता

अग्निधर्मा हैं मगर इस आग का
हम क्या करें

डॉ० रविशंकर सिंह
रानीगंज, वर्द्धमान (प० बं०)
मो०–9434390419

वह सन् 2013 के जुलाई का महीना था। रानीगंज में सुधीर विद्यार्थी को गणमित्र सम्मान दिया जाना था। उस अवसर पर मैनेजर पांडेय, संजीव, सुरेश सलिल, रविभूषण रानीगंज आये थे। हमलोगों की बड़ी इच्छा थी कि उस अवसर पर रामकुमार कृषक भी आयें, लेकिन शारीरिक अस्वस्थता के कारण वे नहीं आ सके। एक साल बाद 2014 में एक दिन अचानक राम कुमार कृषक का फोन आया कि वे अगस्त में रानीगंज आना चाहते हैं। उन्होंने बताया कि दरअसल उन्हें एक सेमिनार में हिस्सा लेने के लिए कोलकाता आना है। सेमिनार के बाद वे रानीगंज आयेंगे और यहाँ दो–तीन दिन रुककर शांति–निकेतन तथा काजी नजरूल इस्लाम के गाँव देखने जाएँगे। हमारी खुशी का ठिकाना न रहा। जिन्हें हमलोग यातायात खर्च देकर बुलाना चाहते थे, वे स्वयं हमारे बीच आ रहे हैं।

विभिन्न पत्र–पत्रिकाओं में राम कुमार कृषक की रचनाओं को पढ़ने के कारण एक गीतकार गजलगो और कवि के रूप में उनसे परिचय तो था ही, 'अलाव' पत्रिका के एक दो अंक देखकर एक संपादक के रूप में भी उन्हें जानता था, लेकिन एक अच्छे इंसान के रूप में भी संजीव भाई से उनकी चर्चा सुनकर मिलने की बड़ी इच्छा हो रही थी। संजीव भाई अक्सर उनके शेर हमें सुनाया करते थे, जिसे उन्होंने धनबाद में सड़क पर चलते–चलते पहली बार मौसम के मिजाज को देखकर कहा था–

बरसात हो रही है, बरसात हो रही है
धरती की आसमाँ से बात हो रही है।
तारों से जुगनुओं से, रिश्ता है इक पुराना
डरने की बात क्या है, गर रात हो रही है।

महीने भर बाद वह चिरप्रतीक्षित दिन भी आया, जब कृषक जी के मुबारक कदम रानीगंज की धरती पर पड़े। मैं अपने बेटे के साथ उनकी अगुआनी के लिये स्टेशन पर था। बेटे ने पूछा, 'आपने पहले कभी उन्हें देखा है?' मैंने कहा, 'नहीं।' बेटे ने कहा, 'फिर उन्हें पहचानेंगे कैसे?' मैंने कहा, 'कवि को पहचानने में ज्यादा परेशानी नहीं होती। कुछ–न– कुछ तो अलग दिखता ही है कवि के व्यक्तित्व में। वैसे मैंने उनके बारे में काफी कुछ सुन रखा है। उनकी लंबी कद–काठी है और ग्रामीणों जैसे सीधा–सादा व्यक्तित्व है।'

ट्रेन आयी और चली गयी। प्लेटफार्म खाली हो गया। हमने देखा कि एक बुजुर्ग बगल में अपनी अटैची दबाये चुपचाप सिमेंट की कुर्सी पर बैठे हैं। मैंने उनसे पूछा, 'आप राम कुमार कृषक हैं?' गर्मजोशी से हाथ मिलाते हुए कहा, 'अरे! मैं तो आपलोगों का ही इंतजार कर रहा था। चलिये, कहाँ चलना है?' उनकी स्फूर्ति, चाल–ढाल और उनकी गर्मजोशी को देखकर कौन कह सकता है कि उनकी ओपेनहार्ट सर्जरी हो चुकी है और अभी भी वे डॉक्टर के द्वारा दी गयी हिदायत मानकर चलते हैं।

अगले दिन उनके साथ हमलोग शांतिनिकेतन गये। वे जहाँ–तहाँ कार रुकवाकर वीरभूम के गाँव–घर, प्रकृति की तस्वीर अपने कैमरे में कैद करते रहे। परिणामस्वरूप हमलोग नियत समय पर शांतिनिकेतन नहीं पहुँच सके। खैर, जब हमलोग वहाँ पहुँचे, हिन्दी विभाग के शिक्षकों और छात्र–छात्राओं ने गर्मजोशी से उनका स्वागत किया। वहाँ उनका एकल काव्यपाठ हुआ। अगले दिन सुबह वे काजी नजरूल इस्लाम के गाँव चुरुलिया गये। शाम में रानीगंज में उनका काव्यपाठ हुआ। विदाई के दिन आसनसोल के हिन्दी भवन में उनका काव्यपाठ हुआ। एक यह भी बताना जरूरी है कि हर मंच पर उन्होंने लगभग अलग–अलग कविताएँ सुनायीं। श्रोताओं ने उन्हें तन्मयता से सुनी और उनकी रचनाओं की काफी सराहना की। एक जनकवि को इससे ज्यादा क्या चाहिए था?

वे तीन दिन और तीन रातें, कृषकजी से आत्मीय मुलाकात और ढेर सारी बातें। टुकड़े–टुकड़े में उनसे बातें करके जो बातें छनकर आयीं, उसे मैंने दर्ज कर लेना लाजमी समझा। मैंने उनसे पूछा, 'कृषकजी! आप लघु पत्रिका आंदोलन से जुड़ रहे हैं और स्वयं अलाव जैसी लघु पत्रिका का निरंतर संपादन कर रहे हैं। एक संपादक होने के नाते आप अपने अनुभव बताएँ कि लघु पत्रिकाओं को किन समस्याओं से जूझना पड़ रहा है और इसका विकल्प क्या है?

कृषकजी ने चश्मा साफ करते हुए कहा, 'लघु पत्रिकाओं का सवाल एक लेखक की तरह आपकी चिंताओं में शामिल है; क्योंकि उनकी समस्याएँ लेखक पाठक की भी समस्याएँ हैं। साहित्य के संदर्भ में लघु पत्रिका, लेखक और पाठक तीनों का सहकार जरूरी है। यह है भी, पर एक सीमा तक ही। अर्थाभाव इसमें सबसे बड़ी बाधा है। अर्थाभाव लघु पत्रिकाओं के आधार पर चोट करता है। न वे अपने लेखकों को मानदेय दे पाती है, न प्रचार–प्रसार के दायरे को बढ़ा पाती है। इससे हमारे विचार की सृजनात्मक यात्रा, अपनी जनपक्षधर संस्कृति के बावजूद दूर तक जा पाती है।

जहाँ तक विकल्प का सवाल है तो उसकी जरूरत बराबर बनी हुई है। सन् 1993 से ही, जबकि लघु पत्रिका प्रकाशन को आंदोलन शब्द से जोड़ा गया और वे सांप्रदायिक फासीवाद के उभार के दिन थे। आप देखें कि आज वही उभार फिर से हमारे सामने मौजूद है। इस परिणति को हम क्या कहेंगे? संगठन बना, आंदोलन नहीं। इसके कारणों में राजनीतिक मतभेद भी रहे और उससे प्रभावित लेखक संगठनों का बँटवारा भी। यह नहीं होना चाहिए था, लेकिन वह आज भी बना हुआ है। मुझे लगता है कि उसे नया करने की और अधिक जरूरत है और एक व्यापक सहमति एवं सहकार की भी।'

मैं–'एक संपादक को रचना के चयन एवं संपादन में किन–किन समस्याओं का सामना करना पड़ता है?'

कृषकजी–'समस्या रचनाओं के चयन में नहीं, उनके 'रचना' होने, न होने में होती है। खासकर नये रचनाकारों के संदर्भ में, जो लघु पत्रिकाओं की साहित्यिक प्रतिबद्धता को नहीं समझते और आग्रही होते हैं। हर अपने संपादकीय सरोकार और रचना की गुणवत्ता को तो देखना ही होता है। एक समस्या और भी है और वह है आत्म–प्रचार के मोह में पड़ने की। लघु पत्रिका आप किसी उद्देश्य से प्रेरित होकर निकाल रहे हैं, न कि अपनी संपादकीय या लेखकीय महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए। संपादक को इससे बचकर रहना चाहिए। कुछ प्रलोभन बाहर से भी आते हैं, उनका प्रतिरोध भी जरूरी है।'

मैं–'आज के दौर में लघु पत्रिकाओं की बाढ़–सी आ गयी है। क्या यह सब फैशन के तौर पर हो रहा है? विचारधारा और प्रतिबद्धता लघु

पत्रिका की अनिवार्य शर्त है, इस कथन से आप कहाँ तक सहमत हैं?'

कृषकजी–'बाढ़ किसी भी तरह की हो रविशंकरजी, वह विध्वंशात्मक ही होगी, रचनात्मक नहीं। अक्सर तो वह अच्छी चीजों को ठिकाने लगा देती है, इसलिए इससे बचे रहने या इसमें भी बचे रहने का एक ही उपाय है और वह स्वयं आपके सवाल में निहित है–विचारधारा और जनप्रतिबद्धता। निःसंदेह यही दोनों चीजें हमें हर तरह के विचलन से बचाये रखेंगी।'

मैं–'आज लघु पत्रिकाओं के अंदर भी बड़ी पत्रिकाओं का चरित्र उभर रहा है। ऐसी पत्रिकाओं का अपना बाजार है। इस परिस्थिति में 'अलाव' जैसी अन्य ढेर सारी पत्रिकाओं को किन चुनौतियों का सामना करना पड़ता है?'

कृषकजी–'बाजार और लघु पत्रिकाओं का सहकार प्रायः असंभव है। सबसे पहले वह हमारी स्वायत्तता और ईमान पर हमला करता है। बड़ी पत्रिकाएँ अपना एक बाजार जरूर बना सकती है। जैसा कभी धर्मयुग, हिन्दुस्तान, कादम्बिनी, सारिका आदि ने बनाया था, पर वे कल्पना, नवनीत, प्रतीक आदि नहीं हो सकतीं। यहाँ तक कि पहल, हंस, आलोचना, वसुधा, वागर्थ, कथादेश, नयापथ, समयांतर और कथन जैसी भी नहीं। 'अलाव' जैसी अनेक पत्रिकाओं का तो कोई बाजार है ही नहीं और न होगा। दिल्ली सरकार के सूचना एवं प्रसारण निदेशालय ने पाँच साल तक करीब बत्तीस पत्रिकाओं को हिन्दी के बड़े साहित्यकारों पर केन्द्रित उनका 'पुण्यस्मरण' करते हुए जो विज्ञापन जारी किया, वह एक महत्त्वपूर्ण कदम था और जिससे 'अलाव' को भी पहली बार निरंतरता मिली, लेकिन एक साल हो गया, उस योजना का पुनर्नवीकरण नहीं हो सका और आगे भी उम्मीद कम है। इसलिए 'अलाव' जैसे पत्रिकाएँ फिर से अनियतकालीन होने की राह पर है। तो यह चुनौती है कि ऐसे में लघु पत्रिकाओं को किस तरह जीवित रखा जाए।'

मैं–'एक प्रसिद्ध संपादक के रूप में आप अपना निजी अनुभव बताएँ।

कृषकजी–'जहाँ तक निजी अनुभव की बात है, तो वे अनेक हैं और अनेक प्रकार के हैं। एक रचनाकार मित्र की इच्छा थी कि एक अंक उनपर केन्द्रित करूँ। एक सज्जन अपना पूरा उपन्यास पत्रिका में छपवाना चाहते थे। बदले में अपनी संस्था के खर्च पर पाकिस्तान–यात्रा का प्रलोभन भी था। एक मित्र अपनी गजलों पर विशेष खंड चाहते थे और एक 'पहल' में प्रकाशित अपनी कविता को लेकर मेरे संपादकीय में उस पर चर्चा के आग्रही थे। तो ये हाल तो रविशंकरजी तब है, जब ऐसे तमाम लोग मेरी रचनात्मक प्रतिबद्धता को जानते थे, लेकिन समझते नहीं हैं। ऐसा करते हुए अपनी लेखनीय नैतिकता के कपड़े तो वे उतारते ही हैं, संपादक की नैतिकता से भी खेलना चाहते हैं। शेष अनुभवों का क्षेत्र दूसरा है और वह मेरी जनोन्मुखी साहित्यिक निष्ठा और रचनात्मक सरोकारों की विभिन्न चुनौतियों से जुड़ा हुआ है। कई कहानियाँ, कई तरह के वाद–विवाद हैं, लेकिन हरेक का उद्देश्य अंततः है साहित्य ही।

मैं–'एक व्यक्तिगत सवाल। बकौल सुधीर विद्यार्थी 'अमरोहा के रामकुमार' को दिल्ली जैसा महानगर कितना रास आ रहा है?अपनी मिट्टी से कटने की कसक आपकी रचनाओं में दिखती है–

ट्रेन पकड़ी जा बसा दिल्ली हुआ अच्छा
क्या बुरा था जब जुड़ा था गाँव–गोधन से
ढूँढने निकला वजूदे–खुद मगर कुछ यूँ
गुम हुआ जन–संकुलों में टूटकर जन से
कुछ तो खिलता है सरसता है कहीं भीतर
हूँ भले ही दूर फागुन और सावन से।

कृषकजी–'दिल्ली जैसा महानगर रास तो मुझे कभी नहीं आया। वह दिल्ली कोई और रही होगी, जिसके बारे में जौक ने कहा था–'कौन जाये जौक अब दिल्ली की गलियाँ छोड़कर। 1957 में पिताजी के साथ पहली बार दिल्ली को देखा था, आजादी मिलने के दस साल बाद, जबकि मैं तेरह–चौदह साल का था और जल्दी ही करीब छह साल बाद 1963 में रोजगार की तलाश में फिर दिल्ली आ पहुँचा। दिल्ली में यमुना है, लेकिन धीरे–धीरे वह कालीदह में तब्दील हो गयी है। स्नान मैंने उसमें 1957 में ही किया था, उसके बाद नहीं। दिल्ली देश की राजधानी है, पर जो राजधानी अपने पानी तक को न बचा सके, वह कृषक को कैसे रास आएगी? इतिहास का केन्द्र है वह, पर उसमें आम आदमी की जगह कहाँ है?मेरा एक शेर है–'हैं महाभारत में हम भी क्या यह मत पूछिये/पांडवों के भी हुए तो सिर्फ लश्कर हो गये।' तो यह हाल है। महानगर जीवन को लेकर मेरी अनेक कविताएँ हैं। उस जीवन में मैंने अपने को कई तरह से तबाह होते सर्वहारा की पक्षधरता में रखकर देखा है। व्यक्ति और अपने रचनाकार दोनों को। मेरी इधर की ही अप्रकाशित कविता का एक अंश है–

धूल मिट्टी से उठा हूँ, धूल मिट्टी हूँ
गाँव ने भेजी शहर के नाम चिट्ठी हूँ
शब्द से नाता कहीं था संस्कारों में
सरित–सा गतिवान, बँधकर भी किनारों में
मैं सही, मैं ही सही हूँ यह गलत शुरुआत
कवि भी उतनी सही जितना सही जलजात
सुन रहा हूँ गुण रहा फिर भी नहीं गुणवान
हूँ नहीं मिलता जिन्हें वाणी का वरदान
जो किया अर्जित किया जिसका जनक है स्वेद
मैं श्रमिक मैं ही कृषक हूँ पर न इसका खेद
लिख गये कितने ही पुरखे दे गये संदेश
काव्य में ही हैं निहित हर काल के अवशेष
खोजिये फिर खोजिये उसमें कहाँ हैं आप
मनुजता की राह में वरदान या अभिशाप?

मैं–'कृषकजी! आपने कविता में अपनी बात कह दी। मेरे हाथ में आपके पुरस्कारों की लंबी सूची है। आपको अपने रचनाकर्म के लिए प्रकाशवीर शास्त्री स्मृति पुरस्कार, हिन्दी अकादमी बाल साहित्य पुरस्कार दिल्ली, सारस्वत सम्मान मुंबई, इंडो एशियन लिटरेरी क्लब नई दिल्ली, साहित्यिक कृति सम्मान, हिन्दी अकादमी दिल्ली, अदबी संगम एवार्ड अमरोहा, नई धारा रचना सम्मान पटना आदि अनेक सम्मान प्राप्त हुए हैं। इन सम्मानों का एक रचनाकार के जीवन में क्या और कितना महत्त्व होता है?'

कृषकजी किंचित् मुस्कुराते हुए बोले, 'सम्मान और पुरस्कारों का महत्त्व तो होता है, अगर वे स्वतः सहज भाव से आ रहे हों। अन्यथा पहला सवाल तो हमें स्वयं ही करना चाहिए कि कहीं हम अपने आप ही तो अपने लिये तमगे नहीं जुटा रहे!इस संदर्भ में किसी बड़े शायर का यह शेर सुनिये–

'अभी खरीद ले दुनिया कहाँ की मँहगी है
मगर जमीर का सौदा बुरा–सा लगता है।'

तो अपनी कसौटी आप स्वयं ही हैं।

मैं–'कहते हैं कि फ्रांस की राज्य क्रांति के दिनों में डेढ़ दो सौ साहित्यकारों की सूची बनी थी, उनमें मांटेस्क्यू, दीदारो, रूसो का नाम सबसे नीचे था। तो अपने काल में सबसे कम महत्त्वपूर्ण ऐसे लोग ही इतिहास

में दर्ज रह गये हैं। आखिर वे कौन–से तत्त्व हैं, जो किसी रचनाकार को कालजयी बनाते हैं?'

कृषकजी–'साहित्य साधकों की सूची में सबसे नीचे दरअसल उन्हीं साहित्यकारों का नाम होता है, जो धारा के विरुद्ध होते हैं। वे अपने वर्तमान में तो होते ही हैं, पर भविष्य को भी लक्षित कर रहे होते हैं। दीदारो, रूसो, मांटेस्क्यू का नाम आपने लिया। आप यहाँ निराला को देखिये। पीछे जाकर कबीर और तुलसी को देख सकते हैं। इधर नागार्जुन, त्रिलोचन, शमशेर आदि कवियों के साथ भी देर तक ऐसा ही हुआ। 1980 तक तो अज्ञेय ही ज्ञेय थे। मुक्तिबोध भी मुक्तिबोध तभी हुए ,जब वे इस दुनिया में नहीं रहे। तो असली, टिकाउ प्रतिमान तो आखिर जन स्वीकृति से ही बनते हैं। भविष्य में आज के काव्य–प्रतिमानों की क्या गत होगी, यह कौन जाने?'

मैं–'आपकी रचनाओं के नाम गिना रहा हूँ। बापू, ज्योति, सुर्खियों के स्याह चेहरे, नीम की पत्तियों, फिर वही आकाश, आदमी के नाम पर मजहब नहीं, मैं हूँ हिन्दुस्तान, लौट आएँगी आँखें और अपयश अपने नाम आपके नौ कविता संग्रह है। इसके अलावा नमक की डालियाँ आपका कहानी संग्रह है। कहा उन्होंने, साक्षात्कार और दास्ताने–दिल–नादान आत्मसंरक्षण है। सवाल है कि अभिव्यक्ति के लिए कौन–सी विधा आपको ज्यादा उपयुक्त लगती है?'

कृषकजी–'कविता और संस्मरण।'

मैं–'आपने एक शेर में कहा है, तारों से जुगनुओं से है इक रिश्ता पुराना/डरने की बात क्या है गर रात हो रही है। घोर निराशा के इस दौर में इतना आशावादी स्वर आप कहाँ से ढूँढ लाते हैं?'

कृषकजी–'जीवन से। उसके संघर्ष और उसकी श्रमशील गतिशीलता से। मृत्यु से पहले तो मरण है ही नहीं। वैसे भी प्रकृति में प्रत्येक जीव मरणोन्मुख है, फिर भी वह जीवन की साधना करता है। मनुष्य सृष्टि के आरंभ से ही संघर्षधर्मी रहा है। यह नहीं होता तो वह नहीं होता। प्रकृति से संघर्ष करते हुए प्रकृति से ही उसने आगे बढ़ना सीखा है। रात ने ही उसे दिन की पहचान कराई। आकाश में टिमटिमाते तारों और जुगनुओं ने भी उसे राह दिखाई। निराशा वैसे भी एक मनःस्थिति है, वैसे उसके परिस्थितिगत कारणों को अनदेखा नहीं किया जा सकता, लेकिन उससे पार पाना भी मनुष्य का ही कर्तव्य है। एक शेर देखें–'वैसे भी नाउम्मीद जो होते वो हम नहीं/देखें हैं अँधेरे में उजाले किये हुए।'

मैं–''कृषकजी मैं आपके अतिरिक्त और दो कवियों की पंक्तियों पढ़ रहा हूँ। दिनकर ने कहा है–

'चाहिये देवत्व,
पर, इस आग को धर दूँ कहाँ पर?
वह्नि का बेचैन यह रसकोष बोलो कौन लेगा
आग के बदले मुझे संतोष बोलो कौन देगा?'

दुष्यन्त कुमार कहते हैं—'हो कहीं भी आग, लेकिन आग जलनी चाहिए।' आपने कहा है–'आग बिन रोटी नहीं होगी। अन्न के संग आग भी पैदा करें।' आपने स्वयं से भी प्रश्न किया है–'अग्निधर्मा हैं मगर इस आग का हम क्या करें?यहाँ आग के भिन्न–भिन्न अर्थ हैं। एक शब्द के अर्थ में ऐसा और इतना अंतर कैसे आता है?''

कृषकजी–'आग शब्द को लेकर आपने अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सवाल उठाया है। कविता इतिहास से गुजरते हुए अपने वर्तमान तक आती हैं। शब्द उसमें वही होते हैं, लेकिन देश, काल, परिस्थिति और कवि के अपने भावलोक के अनुसार नई से नई अर्थ–व्यंजना करने लगते हैं। दिनकर के यहाँ जो उन्हें देवत्व की ओर नहीं जाने दे रहा है। दूसरे शब्दों में उनके समय का बाहरी यथार्थ उनके अनुभूति यथार्थ पर भारी पड़ रहा है। दुष्यन्त के यहाँ ऐसा कोई द्वंद्वनहीं है। आग के प्रति सिर्फ एक कामना है, बेशक वह कहीं भी जले और इसमें जो आकांक्षा है, बदलाव उसके मूल में है। वह अपने लिये नहीं है।

अब मैं अपनी कविता पंक्तियों पर क्या कहूँ। संकोच में डाल दियाहै आपने मुझे। फिर भी कोई कविता अपने ही तक कहाँ सीमित होती है। दुष्यन्त के शब्दों में–'मुझमें रहते हैं करोड़ों लोग, चुप कसै रहूँ?' तो मेरी पहली दो पंक्तियों का रिश्ता उस किसान से है, जो अन्न तो उगाता है दुनिया भर के लिए, लेकिन स्वयं भूखा रह जाता है। कारण आग और अन्न के रिश्ते को उसने भूला दिया है। आग यहाँ प्रतिरोधी संघर्ष चेतना का पर्याय है और क्रांतिकारिता का भी। दूसरा उद्धरण आपने मेरी गजल से लिया है। अग्निधर्मा हैं, मगर इस आग का हम क्या करें?यह दिनकर की कविता–चाहिए देवत्व पर इस आग को घेर दूँ कहाँ पर के काफी करीब है, लेकिन देवत्व की चाहत यहाँ एकदम नहीं है, बल्कि उस देवत्व, आर्यत्व या और नीचे उतरें तो उस तथाकथित हिन्दुत्ववादी अवधारणा पर प्रहार है, जो आज फिर से उठान पर है। स्मरणीय है कि गजल का मिसरा 1985 का है, जबकि 1984 में सिक्ख विरोधी सांप्रदायिक हिंसा का धुँआ माहौल में बाकी था और निकट भविष्य में ही बाबरी विध्वंस होनेवाला था। तो आग ही एक ही है, लेकिन उसकी लक्षित भूमिकाएँ अनेक हैं।'

मैं–'यह बताइये कृषकजी महात्मा बुद्ध, कबीर, महात्मा फूले, साहूजी महाराज, बाबा अम्बेदकर की तमाम कोशिशों के बावजूद जातिवाद की जड़ें गहरी होती जा रही है। इसकी जड़ों में कौन खाद–पानी दे रहा है।'

कृषकजी–'हमारे ब्राह्मणवादी–सामंतवादी और सवर्णवादी संस्कार, जिन्हें आज की भ्रष्ट और स्वार्थ केन्द्रित राजनीति खाद–पानी मुहैया करा रही है। हमने मंडल से कमंडल को मात देने की कोशिश की, लेकिन परिणाम क्या निकला?कमंडल ही और चौड़ा हुआ न! दरअसल ये दोनों ही प्रवृत्तियाँ, तथाकथित धर्म और जातिवाद, जन विरोधी राजनीति का मूलाधार है।'

मैं–'वर्तमान दौर में आप देख रहे हैं कि अब बाजार हमारे लिये नहीं रह गया है, बल्कि हम बाजार के लिए हो गये हैं। पहले हम अपनी जरूरतों के लिए बाजार जाते हैं। अब बाजार हमारे घरों में घुसकर हमारे अंदर जरूरतें पैदा कर रहा है। इस बाजारवाद से लड़ने की कोई तरकीब आपको सूझती है?'

कृषकजी–'देखिये, रविशंकरजी, बाजार कबीर के जमाने में भी था और गालिब के भी। पीड़ित भी उससे कुछ–कुछ दोनों नजर आते हैं। तो भी वह उनकी या हमारी जरूरतों में शामिल था, लेकिन आज की विडम्बना तो यह है कि अब हम उसकी जरूरतों में तब्दील हो गये हैं। उसने हमें मनुष्य से वस्तु और उपभोक्ता में बदल दिया है। अब वह हमारी जेब में नहीं, हम उसकी जेब में हैं। अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर जारी मुक्त अर्थव्यवस्था का मतलब है, अमीर देशों द्वारा गरीब देशों की उन्मुक्त लूट। इन लुटेरों में राष्ट्रीय लुटेरे भी शामिल हैं। इन सबको अपने–अपने हिसाब से राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय पूँजी पर अधिकार चाहिए। इसी के लिए आर्थिक सुधारों के सब्जबाग दिखाये गये हैं, जबकि वास्तविक अर्थों में यह व्यवस्था बड़ी पूँजी के हाथों छोटी पूँजी की लूट को निरापद बनाती है। विकासशील देशों में किया जानेवाला कोई भी पूँजी निवेश अंततः मुनाफे के लिए ही होता है। जनहित का उससे दूर–दूर तक संबंध नहीं होता।

आपने इससे लड़ने की तरकीब की बात की है, तो इसके लिए

आज भी हमें मार्क्स और गाँधी रास्ता दिखाते हैं। मार्क्स की क्रांतिकारी राजनीति को गाँधी का नैतिक बल चाहिए। एक ठग हमारे बाहर है, तो दूसरा हमारे भीतर। बाहरी ठग हमें ढोल बजाकर ठगता है, तो भीतरी चुपचाप, इसलिए जबतक हम इन दोनों के विरुद्ध खड़े नहीं होंगे, तबतक बात नहीं बननेवाली। पूँजी की लूटाधारित विश्व व्यवस्था अंततः इस दुनिया को हर विनाश की दिशा में ले जा रही है।

मैं–'अपनी रचना के संदर्भ में बताएँ कि क्या आपको ऐसा लगता है कि अभी बहुत कुछ अनकहा रहा गया है?अथवा यह कचोट होती है कि काश! अपनी बात को मैं और बेहतर कह पाता?'

कृषकजी–'जीवन अगर गतिशील है तो उसमें नये अनुभव जुड़ेंगे ही। नये अनुभव जुड़ेंगे तो नया सृजन भी होगा। तो एक रचनाकार का बहुत कुछ अनकहा रहता ही है। एक बार बाबा नागार्जुन से पूछा गया कि बाबा, आपके अपने जीवनानुभव आपकी कविता में किस हद तक आये हैं?तो उन्होंने दोनों हाथों को कंधों तक फैलाते हुए कहा था, जीवन इतना बड़ा है और मैंने उसमें से इत्ता–सा यानी अंगुलभर रचा होगा। तो यह बात है। मेरा हाल भी इससे अलग नहीं है। एक तो अनुभवों की पूँजी कम और फिर उसे रचने की क्षमता भी। रही बात बेहतरी की तो बेहतर कहने की आकांक्षा तो बनी ही रहती है।'

मैं–'मुक्तिबोध कहते हैं, जनता के साहित्य का अर्थ है जनता के लिए साहित्य। मार्क्स, एंगेल्स का साहित्य जनता का साहित्य है। आप जैसे तमाम प्रतिबद्ध रचनाकारों का साहित्य जनता का साहित्य है, लेकिन आप लोगों की रचनाएँ क्या जनता तक पहुँच पाती हैं?'

कृषकजी–'मार्क्स, एंगेल्स जैसे दार्शनिक हों या मुक्तिबोध जैसे साहित्यकार, जनता की चिंता सभी ने की है कि उनका लिखा उस तक पहुँचे। हम जैसे रचनाकार भी यही चाहते हैं, लेकिन यह संभव कहाँ हो पा रहा है। न जनता तक हम जा रहे हैं, न जनता हमारे पास आ रही है। न स्कूल– कॉलेज छात्रों को साहित्य की ओर प्रेरित और संस्कारित कर रहे हैं, न घर–परिवार। दृश्य और प्रिंट मिडिया में भी आज साहित्य की कोई जगह नहीं है; क्योंकि वह बाजार की सेवा जो नहीं कर सकता। हिन्दी प्रवेश अपनी साहित्यिक संस्कृति में सर्वाधिक विमुख है। बंगाल की इस यात्रा में भी कोलकाता से लेकर आपके रानीगंज, शांतिनिकेतन, महाकवि नजरूल के गाँव चुरुलिया और आसनसोल तक घूमा हूँ और हर ओर बांग्ला भाषा साहित्य की जन संस्कृति को महसूस किया है। काजी नजरूल इस्लाम के गाँव की दीवारों तक पर उनके चित्र और उनकी कविताओं के अंशों का शब्दांकन मौजूद है, तो अपने कवियों और लेखकों के प्रति जनता का भी दायित्व होता है। लेकिन इस ओर हमारी जनता प्रायः उदासीन है। मेरा एक शेर इस संदर्भ में यह शिकायत करता है–हमने माना कि इन्कलाब अदब से न कोई–
हमें भी कम तो नहीं आपसे गिला साथी।'

मैं–'आपकी कुछ पंक्तियाँ पढ़ रहा हूँ–
नसें अभी भींगी थीं, सीना तनिक खुला था
खेतों की मिट्टी की गंध बसी थी मन में
हाथों में कच्चे चारे का मिठलौनापन
लिपे–पुते आँगन की ठंडक थी तलुओं में।

तारकोल की सड़कों पर एड़ियाँ घिसते हुए क्या अभी भी तलुओं में लिपे–पुते आँगन की ठंडक बची हुई है?'

कृषकजी–'नहीं रविशंकरजी, ठंडक तो वह अब नहीं बची, लेकिन अहसास उसका अब भी बचा हुआ है और यही अहसास मुझे उन युवाओं तक ले जाना है, जो अपने लिपे–पुते आँगन की ठंडक अपने तलुओं में लिये हुए गाँव से महानगर आते हैं और कई बार वे तारकोली, खूनी सड़कों पर दुर्घटनाओं का शिकार हो जाते हैं। और ये दुर्घटनाएँ सिर्फ बाहर ही नहीं घटतीं, बल्कि मनुष्य के भीतर भी घटती हैं। जिस कविता से आपने मेरी कविता की पंक्तियाँ ली हैं, वह बेहद मार्मिक है और उसके दृश्यमान यथार्थ का मैं साक्षी था। काल्पनिक उसमें कुछ भी नहीं है। उसे याद करना और पढ़ना मेरे लिए आज भी कष्टकर है, जबकि मैं ही उसका रचयिता हूँ।

गीत :

आईना

महेश शर्मा
224 सिल्वर हिल कॉलोनी, धार, (म.प्र.)
8236940201

सुरत तो सच्ची दिखलाये, लेकिन दुर्गुण मन में छिपाये
चेहरा मोहरा लाख सजा ले, लेकिन कहां दिल को सजाये
नैन नशीले बाँकि चितवन, सुन्दर चेहरा होठ रसीले
खुद को देख देख के गोरी, मन ही मन कितनी हरषाये
लेकिन दिल में छुपे कलुष को, आईने में तो देख ना पाये
कितनी ईर्ष्या अहं स्वार्थ और, कटुता का पाखण्ड छुपाये
लिपे पुते चेहरों को देखो, आईने को छोड़ ना पाये
काश ये आईना हर दिल की, छुपी खामियों को दिखलाता
काली कलुषित भावनाओं से, हर पल ये आगाह कराता
थोड़ा बहुत सुधर हम पाते, दिल के अवगुण दूर भगाते
इस आईने का मोह छोड़कर, दिल के आईने पे नजर घुमाते
एक पल चिंतन करते सच्चा, सारे अवगुण नजर आ जाते
लेकिन दिल के आईने को, हमने जंग लगा ली जब से
कोई अवगुण कोई खामी, नजर ना आती खुद की तबसे
साफ़ करो इस आईने को, देखो क्या तस्वीर है असली
चेहरे की सारी सुन्दरता, बिल्कुल धोखा बिल्कुल नकली
हम सँवार ले आत्मा को गर, दिल के दुर्गुण दूर भगा दे
जग के सारे कलुष मिटाकर, उपवन–सा जीवन महका दे।

(2)

गली गली में मंदिर मस्जिद, कदम कदम पर देवस्थान
फिर भी मन की मैली चादर, साफ न कर पाया इन्सान
सुबहो शाम हरि गुण गाता, सत्संग में भी समय बिताता
भजन भाव के ढोंग बताता, छल प्रपंच कितने अपनाता
तेरे पाखंडी स्वभाव पर, बनानेवाला खुद होता हैरान
दुख आवे तो खैर मनाता, अपनी गलती पर पछताता
सुखमय जीवन के आते ही, फिर से गुर्राने लग जाता
चेहरे से तो दया दिखाता, मन में पाल रहे शैतान
गली गली में मंदिर मस्जिद, कदम कदम पर देवस्थान।

आलेख

हिन्दी-मैथिली कथा साहित्य में ग्राम्य संस्कृति और नागार्जुन

उमेश पंडित 'उत्पल'
चूनापुर रोड, मधुबनी, पूर्णियाँ
मो०–9931926872

प्रख्यात आलोचक नामवर सिंह ने एक जगह रेखांकित किया है कि जन साहित्य औद्योगिक क्रान्ति से उत्पन्न समाज–व्यवस्था की भूमिका में प्रवेश करनेवाले सामान्य जन का साहित्य है। इसलिए जन साहित्य लोक साहित्य से इसी अर्थ में भिन्न है कि लोक साहित्य जहाँ जनता के लिए जनता का साहित्य है, वहाँ जन–साहित्य जनता के लिए विशेष द्वारा रचित साहित्य है अर्थात् जन साहित्य शिष्ट व्यक्ति द्वारा रचा वह साहित्य है, जो सह संवेदन के फलस्वरूप सामान्य जन के लिए अभिव्यक्त होता है। इसलिए जन–सामान्य के सुख–दु:ख, आशा, आकांक्षा, हर्ष–विषाद, जय–पराजय, आक्रोश–प्रतिशोध, जीवन– संघर्ष, नागार्जुन के केन्द्रीय विषय है।

नागार्जुन मूलत: कवि हैं। निराला की परंपरा के ठेठ जन कवि! वे जनता के सुख–दु:ख की मार्मिक और सूक्ष्म पड़ताल करनेवाले बड़े अनुभवों के बड़े कुशल गायक हैं। उनका बहुआयामी व्यक्तित्व कविता के बाद जिस क्षेत्र में सबसे अधिक सर्जनशील है, वह है उपन्यास। 'रतिनाथ की चाची' से लेकर 'पारो' तक अपने लगभग एक दर्जन हिन्दी उपन्यासों के जरिये नागार्जुन जिस कथालोक की रचना करते हैं, वह अपनी कई खूबियों के कारण अलग से रेखांकित किये जाने लायक है। उनके उपन्यासों में कई नयी कथा– प्रवृत्तियों की गूँज–अनुगूँज भरी है। इस कथा–संसार की रचना जिन उपकरणों और अनुभवों से हुई है, वह हिन्दी उपन्यास के लिए बिल्कुल नयी है।

कथाकार के रूप में नागार्जुन का महत्त्व उनके उपन्यासों के कारण है, कहानियों के कारण नहीं। समय–समय पर लिखी उनकी कहानियों का जो संकलन 'आसमान में चंदा तैरे' नाम से प्रकाशित हुआ, उसका महत्त्व कुछ खास नहीं। अपने समकालीन कवि मित्रों अज्ञेय और मुक्तिबोध की तरह नागार्जुन कहानी के क्षेत्र में ऐसा कुछ नहीं करते, जिसे अलग से रेखांकित करने की जरूरत समझी जाए। अज्ञेय और मुक्तिबोध ने अपने कविकर्म के अतिरिक्त समय–समय पर जो कहानियाँ लिखीं, उनका विशेष महत्त्व हैं। महत्त्व इस कारण है कि अपने दौर की कहानी को वे न केवल गुणात्मक रूप से समृद्ध करती हैं, बल्कि अपने–अपने ढंग से कुछ अनछुए मानवीय संबंधों एवं सामाजिक सरोकारों को भी रेखांकित करती हैं। नागार्जुन की कहानियों के संबंध में यह बात नहीं कही जा सकती।

उपन्यासकार के रूप में नागार्जुन की विशिष्ट पहचान का मूलाधार है मिथिला का जन–जीवन और उसकी जातीय पहचान का जीवंत चित्रण। मिथिलांचल उनकी रचनात्मक ऊर्जा का स्रोत ही नहीं, उनकी हर साँस में बसा हृदय की धड़कर भी है। यही कारण है कि मिथिलांचल एक जीवित शक्ति के रूप में उनके उपन्यासों में गतिशील है। मैथिली भाषा की मिठास, लोक–गीतों और लोककथाओं की चाशनी में पला मिथिला का परिवेश, मैथिली भाषा जनता का सुख–दु:ख, उसकी आशा–निराशा और रीति–रिवाज के बारीक ब्योरे से नागार्जुन के उपन्यास भरे पड़े हैं। मिथिला की शस्य श्यामला धरती, वहाँ के भोले–भाले लोग, काइयाँ जमींदार, पानी से भरे पोखर–तालाब, मछली, आम, पान, मखान, विद्वत्ता का तेज, मूर्खता का गरूर, ब्राह्मणवाद एवं सामंतवाद का चरम रूप और बिखराव के कगार पर आकर नयी शक्ति अख्तियार करने की उसकी जद्दोजहद, सन 1960 के पहले की भारतीय राजनीति, उसके अंतर्विरोध, वहाँ के भूगोल तथा भाषायी मन–मिजाज का अध्ययन करना हो, उन्हें देखना–समझना हो तो नागार्जुन के उपन्यासों से ज्यादा जीवंत प्रामाणिक स्रोत आपको दूसरा नहीं मिलेगा। नागार्जुन के मन–प्राण में ये तमाम चीजें कितनी रची–बसी हैं, उन्हीं के शब्दों में देखिये–'अब मिथिला की यह भूमि बेहद प्यारी लग रही थी। यह देश–कोश, यह माटी–पानी, पहली वर्षा के बाद धानों के अंकुर, आमों से लदी ये अमराइयाँ, घौदों में लटके पकने को आतुर जामुन, गुलाबी फलभार के विनम्र लचीली तुनुक टहनियाँ, श्याम सलिल पोखर, ग्रीष्म की संजीदा और बरसात की बेहूदी नदियाँ... अमराइयाँ की घनी छाँह.... ।' (दुखमोचन, पृ0 160)। आम, मछली, गोरस, पान और मखान मिथिलावासियों की प्रिय चीजें हैं। इनके बिना न उनके जीवन की कल्पना की जा सकती है और न नागार्जुन के उपन्यासों की। इन तमाम चीजों की खुशबू उनके उपन्यासों में महसूस की जा सकती है। 'दुखमोचन' में आत के प्रति लगाव का यह वर्णन देखिये–'सामने बढ़ आये हाथ तक अपनी गर्दन लंबी करके दुखमोचन ने आम को सूँघ भर लिया, हाथ में लेने की कोशिश नहीं की। कई बार सूँघा, तृप्ति से चेहरा चमकने लगा। थोड़ी देर बाद कहा,'कैसे यह भूमि छोड़कर इतने वर्षों तक आप बाहर रहे मामा?बुरे ग्रहों के फेर में पड़कर लीलाधर धीरे से बोले।'

उनकी भाषा के शक्ति–सौंदर्य के स्रोतों को जाने बिना उन्हें नहीं समझा जा सकता। ये स्रोत प्रकृति और किसान जीवन ही हैं, जहाँ से नागार्जुन अपनी कथा के तमाम उपकरण– भाषा, बिम्ब, शैली, विषय आदि लेते हैं। किसान जीवन से अभिन्न, तुच्छ और जाने–पहचाने उपकरणों से वे अपनी कथा को जनवादी स्वर देते हैं। 'बाबा बटेसर नाथ' अपनी कथा कहते हुए कहते हैं–'झींगुर एक तुच्छ कीड़ा होता है। सैकड़ों–हजारों की तादाद में जब ये एक स्वर होकर आवाज करने लगते हैं, जो एक अजीब समाँ बँध जाता है। झींगुरों की यह अखंड झंकार कई–कई पहर तक चलती रहती है। सामूहिक स्वर की इस एकाग्र महिमा के आगे मेरा मस्तक सदैव नत होता है, होता रहेगा।' अपने कथा–स्रोतों का बारीक निरीक्षण नागार्जुन की खूबी है। कृषक जीवन के आचार–व्यवहार और रीति–नीति के बारे में नागार्जुन का ज्ञान अद्‌भुत है। हल खींचते जब बैल खड़े होते हैं, तो सबसे पहले क्या करते हैं?यह हलवाहे के सिवा कौन बताएगा?लेकिन नागार्जुन को मालूम है कि सबसे पहले वे मूतते हैं। ऐसा उनका कृषक जीवन का लगाव और ज्ञान।

नागार्जुन का हिन्दी उपन्यास के विकास में महत्त्वपूर्ण योग है। वे अपने पूर्ववर्ती या समकालीन को दुहराने के बदले अपना एक समानांतर कथालोक रचते हैं। उनके उपन्यासों में मिथिलांचल की जनता की अस्मिता, संस्कृति और जातीय पहचान की खोज बड़े ही पुरजोर तरीके से हुई है। नागार्जुन के उपन्यासों के जरिये मिथिलांचल की जातीय पहचान का महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्न होता है। हिन्दी उपन्यास में यह एक नयी प्रवृत्ति है और इसका श्रेय निश्चित रूप से नागार्जुन को जाता है। नागार्जुन में जो स्थानीयता है, वह हिन्दी कथा साहित्य में नई है। इस स्थानीयता के कारण ही नागार्जुन प्रेमचन्दोत्तर कथा साहित्य में अपनी अलग और विशिष्ट पहचान बनाने में समर्थ हो पाते हैं।

समीक्षा

आदर्श हिन्दी लघुकथाएँ

माधव नागदा
लालमादड़ी (नाथद्वारा), आबू रोड, राजस्थान
मो०–9001196573

त्रिलोक सिंह ठकुरेला द्वारा संपादित लघु कथा संग्रह 'आधुनिक हिन्दी लघुकथाएँ' मेरे सम्मुख है। आजकल संपादित लघुकथा संग्रहों की बाढ़–सी आ गयी है। यह बात लघुकथा के भविष्य के लिए अच्छी भी है और बुरी भी। लघुकथा की विकास–यात्रा में मील का पत्थर बनने की होड़ में कई लोग बिना किसी संपादकीय दृष्टि या कि सूझ–बूझ के जैसी भी लघुकथाएँ उन्हें उपलब्ध हो जाती हैं, उन्हें इकट्ठा कर पाठकों के सम्मुख पटक देते हैं। शायद इसी बात से दुखी होकर बलराम को कहना पड़ा है कि अधिकांश लघुकथा संग्रह भूसे के ढेर हैं, जिनमें दाना खोज पाना बहुत मुश्किल काम लगता है। इस बात का उद्धरण स्वयं ठकुरेला ने 'अपनी बात' में दिया है। इसका अर्थ यह हुआ कि ठकुरेला ऐसा लघुकथा संकलन पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करना चाहते हैं, जिसमें भूसा कम और दाने अधिक हों। यद्यपि उन्होंने 'अपनी बात' में सीधे–सीधे अपने उद्देश्य के बारे में कुछ नहीं कहा है। हम केवल अनुमान लगा सकते हैं। वे कहते हैं, 'लघुकथा घनीभूत संवेदनाओं को व्यक्त करने की क्षमता रखती है।' अर्थात् वे ऐसी क्षमतावान लघुकथाएँ संकलित करना चाहते हैं, जिनमें घनीभूत संवेदनाएँ हों। परन्तु मुझे लगता है कि उनका वास्तविक उद्देश्य कुछ और ही है जो कि पुस्तक के शीर्षक से ध्वनित होता है। शीर्षक है, 'आधुनिक हिन्दी लघुकथाएँ' यानी ऐसी लघुकथाओं का संकलन, जो आधुनिक हों। परन्तु उन्होंने कहीं भी 'आधुनिक' की अवधारणा पर प्रकाश नहीं डाला है। यदि हम 'आधुनिक' की काल सापेक्ष चर्चा करें तो डॉ. रामकुमार घोटड़ के अनुसार– लघुकथा के संदर्भ में सन् 1970 के पश्चात् का समय आधुनिक काल है। इस दृष्टि से सन् 1971 से अबतक रचित लघुकथाएँ आधुनिक कथाएँ हैं। परन्तु मेरी दृष्टि में आधुनिकता की यह परिभाषा मुकम्मल नहीं है। कारण कि काल विभाजन की दृष्टि से कोई रचना आधुनिक होते हुए भी जरूरी नहीं कि मूल्यबोध की दृष्टि से भी आधुनिक ही हो। उदाहरण के लिए एक लघुकथा (इस संग्रह से नहीं) इस प्रकार है– एक स्त्री के प्रसव–पीड़ा से मुक्ति मिलती है। जब दाई बताती है कि लड़की हुई है, तो वहाँ उपस्थित सभी स्त्रियाँ के चेहरे प्रसन्नता से खिल उठते हैं। आगे लेखक अपनी तरफ से टीप जड़ता है, कहने की आवश्यकता नहीं कि वे सब वेश्याएँ थीं। यानी पुत्री जन्म पर यदि कोई स्त्री खुशी जाहिर करती है, तो लेखक के अनुसार वह वेश्या होगी। जाहिर है कि आधुनिक काल में रची गयी होने के बावजूद प्रतिगामी मूल्यवाली वह लघुकथा आधुनिक तो कतई नहीं है। हाँ, समकालीन जरूर है। समय सापेक्षता समकालीनता का द्योतक है, आधुनिकता का नहीं।

तो फिर सर्जनात्मकता के संदर्भ में आधुनिक होने का क्या तात्पर्य है?मेरे विचार से भाषा, भाव, कथ्य, संवेदना, शिल्प, विचार, जीवनमूल्य की दृष्टि से जिस रचना में नयापन हो, वही आधुनिक है। आधुनिक वह है, जो पुरानी सड़ी–गली, तर्कहीन मान्यताओं के प्रति अपना विरोध दर्ज करे या फिर उनके परिष्कार की ओर संकेत करें आधुनिक लघुकथा या कोई भी बड़ी रचना ताजा हवा के झोंके की तरह होती हैं। डॉ0 कुन्दन माली के अनुसार, 'आधुनिकता जीवन और सर्जन के क्षेत्र में मौजूद यथास्थिति और रूढ़ियों के प्रतिकार का नाम है।'

इस दृष्टि से विचार करें तो 'आधुनिक हिन्दी लघुकथाएँ' की कई लघुकथाएँ आधुनिकता की कसौटी पर खरी उतरती हैं।

आज के दौर की कई लघुकथाओं में नगरीय जीवन की भागदौड़ जिंदगी के कारण बुजुर्गों की दयनीय होती जा रही स्थिति को खूब चित्रित किया गया है। परन्तु रामेश्वर काम्बोज हिमांशु की लघुकथा 'ऊँचाई' इन सबसे अलग हटकर है। यहाँ पिता जिस ऊँचाई पर खड़े हैं, उसे देखकर एक ताजगी का अहसास होता है। यह लघुकथा सिर्फ कथ्य की दृष्टि से ही नहीं, वरन् अपनी संवेदनात्मक छुअन के लिए भी उल्लेखनीय है। रामयतन यादव की 'डर' में कभ कमोबेश यही स्वर उभरकर आया है, परन्तु तनिक भिन्न संदर्भ में। यहाँ मरणासन्न माधव अंकल का स्वाभिमान मन को भिंगो देता है।

राजेन्द्र परदेशी ने आज के शहरी युवा के मन में ग्रामीण जनजीवन के प्रति पनप रहे वितृष्णा भाव को बड़ी कुशलता के साथ अपनी लघुकथा 'दूर होता गाँव' में पिरोया है। प्रकारान्तर से यह उपेक्षा श्रमशील संस्कृति के प्रति भी है, जिसे लेखक ने सटीक संवादों के साथ प्रभावशाली ढंग से अभिव्यक्त किया है। डॉ0 रामनिवास मानव की लघुकथा 'दौड़' भी गाँव और नगर के बीच की खाई की ओर इशारा करती है।

प्रताप सिंह सोढ़ी 'शहीद की माँ' में शहीद बेटे की तस्वीर के माध्यम से देश की दुर्दशा के बीच स्वतंत्रता दिवस की धूमधाम के विरोधाभास को बड़े ही मर्मस्पर्शी रूप में प्रस्तुत करते हैं।

ज्योति जैन की 'अपाहिज' लघुकथा सोच को सार्थक दिशा देनेवाली एक सशक्त लघुकथा है। इसमें पायल अपाहिज यश को अपना जीवन साथी चुनती है; क्योंकि वह स्वयं फैसला लेने में सक्षम है। अमन पूर्णतया स्वस्थ होते हुए भी रीढ़विहीन है; क्योंकि जिंदगी के अहम् फैसले स्वयं नहीं ले सकता। यश को चुनकर पायल न केवल साहस का परिचय देती है, वरन समाज के लिए भी एक अनुकरणीय उदाहरण प्रस्तुत करती है।

सुकेश साहनी सदैव शिल्प और कथ्य के स्तर पर पुरानी जमीन तोड़ते रहे हैं। इस संग्रह की लघुकथा 'बिरादरी' में उन्होंने बड़े सधे हुए अंदाज में इस बात को रेखांकित किया है कि किस तरह मनुष्य का व्यवहार सामनेवाले के स्टेटस को देखकर पल–पल रंग बदलता है। भाषा का स्तर भी उन्होंने ध्यानाकर्षक प्रयोग किया है, यथा–'किसी पुराने परिचित से सामना होने की आशंका मात्र से मेरे कान गर्म हो उठे, दायीं आँख के नीचे बड़े–से मंसे के कारण मुझे अपने बचपन के दोस्त सीताराम को पहचानने में देर नहीं लगी। मैंने प्यार से उसकी तौंद को मुकियाते हुए कहा।' साहनी की 'आईना' भी एक स्थापित उपन्यासकार की गरीबों के प्रति सहानुभूति के खोखलेपन को आईना प्रतीक के माध्यम से एकदम मौलिक तरीके से अभिव्यक्त करती है।

मुरलीधर वैष्णव की 'पॉकेटमार' तीर्थस्थलों पर पंडे पुजारियों द्वारा की जानेवाली लूट पर प्रकाश डालती है, तो अंजु दुआ जैमिनी की 'कमाई का गणित' इन पवित्र स्थलों पर दुकानदारों द्वारा भक्तों के साथ की जानेवाली चालाकियों का रोचक बयान है।

संग्रह की कई लघुकथाओं में दरकते रिश्तों को नयेपन के साथ विश्वसनीय तरीके से चित्रित किया गया है। ये लघुकथाएँ हैं, आशा शैली की 'खोटा सिक्का', कमल कपूर की 'सर्वेंट क्वार्टर' व 'सहारे', ज्योति जैन की 'झप्पी', कृष्णकुमार यादव की 'बेटे की तमन्ना', शकुन्तला किरण की

'कोहरा', सुरेश शर्मा की 'भूल', अमरनाथ चौधरी अब्ज की 'वसीयत' आदि। इनमें से कमल कपूर की 'सर्वेंट क्वार्टर' को पाठक लंबे समय तक भूल नहीं पायेंगे। पोता पैंटिंग में घर बनाता है, घर में अलग–थलग सर्वेंट क्वार्टर। पिता खुश होता है कि बेटा सर्वेंट के लिए भी अलग घर बना रहा है। इस पर बेटा कहता है कि यह आपके लिए है, जब बूढ़े हो जाओगे, तब इसमें रहोगे। दादाजी भी तो सर्वेंट क्वार्टर में ही रहते हैं। यह लघुकथा उस पुरानी कहानी का आधुनिक परिवेश में सार्थक रूपान्तरण है, जिसमें बेटा मिट्टी के बर्तन को सँभालकर रखता है, जिसमें दादाजी को बचा–खुचा खाना खिलाया जाता रहा है। सूर्यकांत नागर की 'कुकिंग क्लास' तथा डॉ0 सुधा जैन की 'समाज सेवा' सास–बहू के रिश्तों के तानव को नये ढंग से परिभाषित करती है। अर्थहीन होते जा रहे रिश्तों को लेकर प्रभात दूबे की 'गर्म हवा' जबर्दस्त लघुकथा है। यह रचना वृद्ध लोगों की त्रासदी को घनीभूत संवेदना के साथ प्रस्तुत करती है। यह जानकर कि शर्माजी को उनके बेटे–बहू ने वृद्धाश्रम भेज दिया है, उनके साथ रोज घूमनेवाले शेष दो वृद्ध बुरी तरह सहम जाते हैं। उन्हें अपना भविष्य दिखने लगता है। ट्रीटमेंट के लिहाज से यह लघुकथा बेहद सशक्त है।

यह सच है कि आज के समय में तमाम रिश्ते बेमानी होते जा रहे हैं, वृद्धजन लगातार अपनों ही के द्वारा अपमान झेलने को मजबूर हैं और स्वयं को असुरक्षित महसूस करते हैं। ऐसे में डॉ. दिनेश पाठक शशि की 'साया' एवं डॉ. योगेन्द्रनाथ शुक्ल की 'टूटी घड़ी' अँधेरे में प्रकाश की बारीक लकीर की तरह नयी आशा जगाती है। 'साया' में अपनी बीमार वृद्ध माँ की मृत्यु पर बेटा स्वयं को अकेला और अनाथ– सा अनुभव करता है, जबकि 'टूटी घड़ी' में पुत्र अपनी माँ की निशानी स्वरूप बची एक टूटी घड़ी के प्रति पिता के भावनात्मक लगाव को देखकर उसे कमरे से फेंकने की बजाय पुनः वहीं रख देता है। ये दोनों लघुकथाएँ इस बात के प्रति आश्वस्त करती हैं कि अभी तक मानवीय संवेदनाएँ पूरी तरह मरी नहीं हैं अभी भी बहुत कुछ बचा हुआ है।

संग्रह में ऐसी लघुकथाएँ भी हैं, जिनमें अभावग्रस्त आम आदमी की भूख और जिल्लत भरी जिंदगी को नये शिल्प और अछूते प्रतीकों के माध्यम से वाणी दी गयी है। पेट की 'आग' (देवांशु पाल), 'भूत' (डॉ. पूरन सिंह) पर भारी पड़ती है। 'भूत' लघुकथा का नायक भूख के आगे बेबस होकर श्मशान घाट पर रखे भोजन को ग्रहण करने से भी भयभीत नहीं होता। 'पैण्ट की सिलाई' (डॉ. रामकुमार घोटड़), 'साहब का कुत्ता (आकांक्षा यादव), 'पसीना और धुँआ' (अंजु दुआ जैमिनी), 'सोने की चैन' (डॉ. रामनिवास मानव) तथा 'पहली चिन्ता' (डॉ. कमल चोपड़ा)। लघुकथाएँ आम आदमी की बेबसी को अपने ढंग से बयान करती है। डॉ. कमल चोपड़ा की 'धर्मयुद्ध' भी उल्लेखनीय है, जो बेबाकी के साथ सांप्रदायिक दंगों के राजनीतिक मुखौटे को बेनकाब करती है। डॉ. सतीशराज पुष्करणा की 'अँधेरा' भी इसी अँधेरे पक्ष के चलते चारों ओर पसरे वैचारिक शून्य को भरने की सर्जनात्मक कोशिश है।

संग्रह में कुछ और लघुकथाएँ हैं, जो कथ्य या शिल्प की ताजगी के चलते अलग से ध्यान आकर्षित करती हैं। ये हैं– 'विरेचन' (डॉ. पुरुषोत्तम दूबे), 'गुस्सा' (गुरुनाम सिंह रहील), मामाजी (नदीम अहमद नदीम), यकीन, भरोसा (निशा भोंसले), घिसाई (राजेन्द्र साहिल), प्रश्न चिह्न (प्रदीप शशांक), फर्क (इंदु गुप्ता), मध्यस्थ (मालती बसंत), सुकन्या (कुँवर प्रमिल), और नया क्षितिज (साधना ठकुरेला)। 'विरेचन' में चुटीले संवादों के माध्यम से पर निंदा सबसे बड़ा सुख कहावत को चरितार्थ किया गया है, तो 'गुस्सा' में कायर का गुस्सा सदैव कमजोर पर निकलता है। 'मामाजी' और 'नया क्षितिज' में पुरुष मानसिकता पर सार्थक चोट की गयी है। साधना ठकुरेला ने चिड़े का प्रतीक लेकर एक नयी बात कही है कि नर किसी भी प्रजाति का हो, नारी के प्रति उसका रवैया सदा समान रहता है।

आज भ्रष्टाचार ने इस कदर शिष्टाचार का रूप धरण कर लिया है कि ईमानदार आदमी की निष्ठा भी अविश्वसनीय लगती है (यकीन)। दूसरी ओर राजेन्द्र सिंह साहिल की 'घिसाई' ईमानदार आदमी के भोलेपन और तदजन्य बेबसी को बताती है। निशा भोंसले की 'भरोसा' में पिता द्वारा जवान बेटी को दिया गया यह जवाब मन को झिंझोड़कर रख देता है, 'तुम पर (भरोसा) है, पर इस शहर पर नहीं।' यह अकेला वाक्य लोगों की मानसिकता पर एक मुकम्मल बयान है। 'प्रश्न चिह्न' समय के साथ लोगों के बदलते मिजाज का अच्छा जायजा लेती है। यहाँ तलाक मिल जाने की खुशी में युवती को मिठाई बाँटते हुए दिखाया गया है। संतोष सुपेकर की 'उलझन' तथा 'एक और जानवर' की नयी जमीन पर खड़ी दिखायी देती है। लेखक जब एक व्यक्ति को घायल बैल पर गाड़ी चढ़ाते देखता है, तो उसकी यह टिप्पणी बहुत कुछ कह देती है, 'सबने केवल एक जानवर देखा, पर मैंने दो जानवर देखे, एक चौपाया और एक दोपाया।' वस्तुतः आज समाज में दोपाये जानवरों की संख्या निरंतर बढ़ती जा रही है, जिनके प्रति एक साहित्यकार ही अपनी लेखनी द्वारा लोगों को सचेत कर सकता है।

आजकल जातिवाद भी हमारे समाज में नासूर की तरह फैलता जा रहा है। अफसोस कि राजनेता अपने निहित स्वार्थों के लिए इस सड़ांध को बचाए और बनाये रखना चाहते हैं। हालाँकि जातिवाद के इस पहलू पर गौर करनेवाली लघुकथाओं का अभाव है, फिर भी इसके परंपरागत कारणों पर प्रहार करनेवाली कतिपय लघुकथाएँ यहाँ संकलित की गयी हैं। ये लघुकथाएँ हैं त्रिलोक सिंह ठकुरेला की 'रीति–रिवाज', आनंद कुमार की 'विभेद', 'अपवित्र', अशोक भाटिया की 'बंद दरवाजा' तथा डॉ. सुरेश उजाला की 'जातिगत द्वेष'।

यद्यपि सभी लघुकथाओं में यथार्थ की विश्वसनीय ढंग से प्रस्तुत करने की कोशिश की गयी है और भाषा के प्रति पर्याप्त सावधानी बरती गयी है, फिर भी कहीं–कहीं असावधानीवश कुछ छिद्र रह गये हैं। उदाहरण के लिए जातिगत भेदभाव की मनोवृत्ति पर प्रहार करनेवाली लघुकथा 'विभेद' का आरंभ यों होता है, 'बात आज से 20–25 साल पूर्व की है।' यह पंक्ति अनावश्यक है और लघुकथा के शिल्प को क्षति पहुँचानेवाली है। लगता है कि लेखक किसी सत्य घटना का बयान करने जा रहा है। इसी तरह 'सोने की चेन' लघुकथा जो आरंभ में बहुत सहजता के साथ आगे बढ़ रही होती है कि 'मैं' पात्र द्वारा चेनवाले से पूछा गया यह प्रश्न पाठकों को चौंका देता है, 'भाई! यदि तुम्हारी चेन इतनी बढ़िया है तो इसे अपनी बेटी और बीवी को क्यों नहीं पहनाते?' यह वाक्य यथार्थ को खंडित करनेवाला है; क्योंकि लघुकथा में कहीं नहीं बताया गया है कि लेखक (मैं) ने चेनवाले की बीवी व बेटी को पहले कहीं देखा है कि ये दोनों नकली चेन पहने हुए हैं। पाठक के मन में तो यह सवाल भी उत्पन्न होता है कि लेखक को कैसे पता कि चेनवाले को एक बेटी भी है। जरा–सी असावधानी लघुकथा की विश्वसनीयता को सवालों के घेरे में खड़ा कर देती है। एक लघुकथा में वाक्य प्रयोग आता है, 'उल्लास से छलकता, उसका मन सहसा बुझ गया।' बुझता वह है, जो जलता है। छलकनेवाला तो रिस्ता है। अतः यहाँ छलकना, बुझना का प्रयोग अप्रासंगिक है। एक और लघुकथा में वाक्यखंड आता है, 'एक पान के ठेले के सामने खड़े रिक्शेवाले की वजह से' जबकि होना चाहिए 'पान के एक ठेले के सामने...।'

कुल मिलाकर 'आधुनिक हिन्दी लघुकथाएँ' संग्रह की अधिकतर लघुकथाओं में नये शिल्प और संवेदना के साथ समकालीन जीवन मूल्यों तथा समाज में व्याप्त विसंगतियों की गहराई के साथ जायजा लिया गया है। ये लघुकथाएँ निस्संदेह पाठकों को रोजमर्रा की समस्याओं पर नये सिरे से सोचने के लिए बाध्य करेंगी।

आलेख

श्यामजी कृष्ण वर्मा : आधुनिक भारत के इतिहास का विस्मृत अध्याय

डॉ. ऊषा निगम
74 कैन्ट, कानपुर,उ.प्र.
मो०–09792733777

श्यामजी कृष्ण वर्मा केवल एक व्यक्ति ही नहीं, वरन् इतिहास का पूरा एक अध्याय है। एक छोटे–से गाँव में जन्म लेनेवाले एक बालक ने विदेश में रहकर अंग्रेजी शासन का विरोध किया; नवयुवक को संगठित कर उनमें देश के लिए त्याग और बलिदान की भावना जागृत की, इसके साथ ही अपनी पत्रिका के माध्यम से भारत की पूर्ण स्वतंत्रता की उद्घोषणा की एवं परोक्ष रूप से क्रान्तिकारी विचारधारा का समर्थ किया– केवल यही नहीं और भी बहुत कुछ। श्यामजी कृष्ण वर्मा के विषय में संक्षेप में कुछ लिखना सचमुच बहुत कठिन है।

श्यामजी का जन्म कच्छ राज्य के मांडवा ग्राम में 4 अक्टूबर, 1857 को हुआ था। उनके परिवार की स्थिति संतोषजनक नहीं थी, फिर भी श्यामजी की कुशाग्र बुद्धि को देखकर उनके माता–पिता ने उन्हें अंग्रेजी शिक्षा दिलाने का निश्चय किया था। इस निश्चय को पूरा कर पाना कठिन था। उनकी प्राथमिक शिक्षा गाँव में, तदुपरान्त भुज में हुई और फिर श्याम जी शिक्षा प्राप्त करने के लिए मुम्बई पहुँचे। वहाँ उनकी विलक्षण प्रतिभा से प्रभावित होकर मुम्बई के एक व्यवसायी मथुरादास लावाजी ने उनकी शिक्षा का दायित्व लिया। इसके बाद श्यामजी ने कभी पीछ मुड़कर नहीं देखा। मथुरादास ने ही अंग्रेजी के साथ संस्कृत भाषा की शिक्षा की भी व्यवस्था की। शीघ्र ही वे दोनों भाषाओं में पारंगत हो गये। वह समय संस्कृत भाषा का पुनरुत्थान काल था। इस परिवर्तन का कारण भारतीय मनीषी नहीं, वरन् विदेशी मनीषी थे, जिन्होंने संस्कृत भाषा और संस्कृत के प्राचीन ग्रंथों का गहन अध्ययन किया और इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि संस्कृत भाषा अथाह सागर है और उसमें ज्ञान के अनगिनत मोती हैं।

10 अप्रैल, 1975 को श्यामजी स्वामी दयानंद सरस्वती के संपर्क में आये। श्यामजी उनके प्रगतिशील विचारों से बहुत प्रभावित हुए, किन्तु वे स्वामीजी के अनुयायी नहीं बने। उन्हें तो विस्तृत आकाश में खुले पंखों में उड़ना था, विदेश में रहकर देश की सेवा करनी थी। उसी समय श्यामजी ने शास्त्रों का उदाहरण देकर हिन्दू समाज में विधवा विवाह का समर्थन किया। उनकी कम आयु, उनका पांडित्य, उनके प्रगतिशील विचार और संस्कृत में दिये जानेवाले उनके धारा प्रवाह भाषणों ने श्यामजी को पर्याप्त प्रसिद्धि प्रदान की।

विदेशों में ऐसे विद्वानों की बहुत आवश्यकता थी, जिन्हें संस्कृत और अंग्रेजी भाषा पर समान रूप से अधिकार हो। उन्हीं दिनों ऑक्सफोर्ड के प्रसिद्ध विद्वान् मोनियर विलियम्स भारत आये। उन्हें श्यामजी में वह सब मिला, जिसकी उन्हें खोज थी। उन्होंने श्यामजी को उच्च शिक्षा के लिए ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय आने और अपना सहयोगी बनाने का निमंत्रण दिया। विलियम्स ने उनके लिए छात्रवृत्ति की भी व्यवस्था की। 1883 में उन्होंने स्नातक की डिग्री प्राप्त की।'वे ऑक्सफोर्ड के प्रथम भारतीय स्नातक थे।' 1883 और 1897 के बीच श्याम जी कई बार भारत–इंग्लैंड के बीच आते–जाते रहे। इंग्लैंड से बैरिस्टरी की परीक्षा पास की, भारत आकर वकालत की; उदयपुर, जूनागढ़ आदि रियासतों में कार्य करने के बाद अंततः 1897 में वे सदा के लिए इंग्लैंड चले गये; अन्यथा वे अपने उग्र विचारों के कारण भारत में ब्रिटिश सरकार द्वारा बंदी बना लिये जाते। स्वयं स्वतंत्र रहकर ही श्यामजी भारत को स्वतंत्र देखने के लिए अपने सपने को पूरा कर सकते थे।

श्यामजी लंदन में इनर टेंपल–रेजिडेन्शियल चेम्बर में रहने लगे। इस समय उनका प्रथम लक्ष्य देश–विदेश में भारत के विस्तृत स्वर्णिम अतीत को पुनर्स्थापित करना था। आत्मगौरव और आत्मसम्मान की भावनाओं को जागृत करके विदेशी शासन से भारत को मुक्त करना उनका दूसरा लक्ष्य था। उनके विचारानुसार स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए किसी भी मार्ग का अनुसरण किया जा सकता था। उसके साथ ही वे तत्कालीन बुद्धिजीवियों से विचार–विमर्श करते रहे। श्यामजी हर्बर्ट स्पेन्सर से विशेष रूप से प्रभावित थे। स्पेन्सर का कहना था कि आक्रमण का प्रतिकार करना न केवल उचित है, वरन् आवश्यक भी है। प्रतिकार न करना कल्याण– कारी एवं स्वार्थी दोनों को क्षति पहुँचाता है। आयरलैंड, रूस आदि देशों के क्रान्तिकारियों के विचारों की उन्हें पूरी समझ थी और श्यामजी अंतर्राष्ट्रीय घटनाओं के प्रति पूर्ण रूप से जागरूक थे।

यहाँ पर एक घटना का उल्लेख करना आवश्यक प्रतीत होता है। 1899 में दक्षिणी अफ्रीका के ट्रांसवैल लोकतंत्र के जोहन्सबर्ग के निकट एक सोने की खान का पता चला था। इसी खान पर अधिकार प्राप्त करने के लिए इंग्लैंड ने ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न कीं कि ट्रांसवैल के राष्ट्रपति ने 11 अक्टूबर, 1899 को इंग्लैंड के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। इतिहास में इसे बोअर युद्ध के नाम से जाना जाता है। उस समय तक अजय इंग्लैंड राष्ट्र की सेनाओं को जब छोटे–से देश से पराजय का सामना करना पड़ा, तो सारा संसार हतप्रभ रह गया। अनेक देशों ने बोअरों का समर्थन किया। इस समय नाटाल में बैरिस्टरी कर रहे गाँधी जी को वहाँ पर्याप्त सम्मान प्राप्त था। उन्होंने वहाँ एक 'स्वयं सेवक सेना' का संगठन किया और अंग्रेजों को अपना पूर्ण समर्थन दिया। यह समर्थन विचित्र था। श्यामजी ने गाँधीजी के समर्थन का घोर विरोध किया।

लंदन में पर्याप्त समय व्यतीत करने के बाद श्याम जी ने जनवरी 1905 में 'द इंडियन सोशियोलॉजिस्ट' पत्रिका निकालना आरंभ किया। इस पत्रिका के माध्यम से श्यामजी को अंग्रेजों को यह संदेश देना था कि उनके शासन में भारत में भारतवासी कैसा महसूस करते हैं। 'भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस' को सहयोग देते हुए भी श्यामजी कृष्ण वर्मा की विचारधारा कांग्रेस से बहुत भिन्न थी। उन्होंने अपनी पत्रिका के माध्यम से यह विचार सूत्र दिया कि परतंत्रता का विरोध होना ही चाहिए। उन्होंने कहा कि प्रत्येक स्तर पर भारतवासियों को ब्रिटिश सरकार से पूर्ण असहयोग करना चाहिए। केवल यही नहीं, यदि आवश्यकता हो तो सशस्त्र संघर्ष के लिए भी तैयार रहना चाहिए। इस पत्रिका की प्रतियाँ नियमित रूप से भारत आती थीं और भारत के क्रान्तिकारी उन्हें बड़ी उत्सुकता से पढ़ते थे और उनसे प्रेरणा ग्रहण करते थे।

श्यामजी ने 18 फरवरी, 1905 में 'इंडियन होम रूल सोसाइटी' की स्थापना की। इस संस्था का उद्देश्य भारतीयों के लिए भारतीयों की सरकार की स्थापना करना था। इस संस्था के द्वारा भारत की जनता में स्वतंत्रता एवं राष्ट्रीय एकता की भावना का प्रसार करना था।

श्यामजी प्रेस का मंच तैयार कर चुके थे। अब उन्हें एक ऐसा केन्द्र तैयार करना था, जहाँ रहकर भारतीय युवक स्वयं को और अपने देश के भविष्य को दिशा दे सकें। 'इंडिया हाउस' एक ऐसा ही केन्द्र या स्थान बना। 1 जुलाई, 1905 को श्यामजी ने भारतीय छात्रों के लिए एक

छात्रावास की व्यवस्था की थी। 23 फरवरी, 1907 को श्यामजी ने 'भारत में राजनीतिक प्रचारक' (च्वसपजपबंस डपेपवदंतपमे वप्दिकपं) नामक संगठन की स्थापना की। इस संगठन को उन्होंने 10,000 रुपये की धनराशि भी प्रदान की। उन राजनीतिक प्रचारकों को केवल देश के लिए जीन और मरना था। इन्हें प्रत्येक मानवीय संबंधों और भावुकता से ऊपर उठकर केवल देश–सेवा करनी थी। जापान के वीर नायकों की भाँति उन्हें यह सोचकर दुखी होना था कि देश पर उत्सर्ग करने के लिए उन्हें केवल एक ही जीवन क्यों मिला है। श्यामजी के चारों ओर सचमुच ऐसे लोग एकत्र हो चुके थे, जिनके लिए भारत माता और उसकी आजादी ही सर्वोपरि थी; यथा सरदार सिंह राणा, लाला हरदयाल, विनायक दामोदर सावरकर, सेनापति बापट, मैडम भीकाजी कामा आदि। इंडिया हाउस देशभक्तों का केन्द्र बना, उनकी प्रेरणा,समर्थन और सहयोग से भारतीय क्रांतिकारी आंदोलन के हाथ मजबूत हुए।

इंडिया हाउस में समय–समय पर सभाएँ होती थीं, जिनमें भारत तथा अन्य देशों की राजनीतिक घटनाओं पर विचार व्यक्त किये जाते थे। 1905 के बंगाल विभाजन के बाद सुरेन्द्रनाथ बनर्जी को गिरफ्तार किया गया। श्यामजी ने इसके विरोध में 4 मई, 1906 को इंडिया हाउस में एक सभा की, जिसमें भाई परमानंद, विट्ठलभाई पटेल आदि मौजूद थे। लाला लाजपतराय और सरदार अजीत सिंह के विरुद्ध सरकार ने जो निर्णय लिये थे, उनका विरोध भी इंडिया हाउस में किया गया था। इस सभा में राणा और मादाम कामाजी उपस्थित थीं। 1908 में बंगाल के प्रसिद्ध क्रांतिकारी कन्हाई लाल दत्त को फाँसी दी गयी। उसके दाह संस्कार की एक मुट्ठी भस्म किसी क्रान्तिकारी ने लंदननिवासी क्रांतिकारियों के पास भेजी थी। इंडिया हाउस में एक बड़ी सभा का आयोजन किया गया, जिसका सभापतित्व राणा ने किया। वहाँ उपस्थित सभी व्यक्तियों ने उस भस्म से तिलक लगाकर ब्रिटिश शासन को समाप्त करने की प्रतिज्ञा की।

इंडिया हाउस में रहनेवाले एक विद्यार्थी मदन लाल धींगरा की चर्चा के बगैर इस काल का इतिहास अधूरा है। इस देशप्रेमी युवक ने इंडिया हाउस की प्रत्येक सभा में भाग लिया और 'कभी भी मातृभूमि के प्रति अपने प्रेम को छिपाने का प्रयास नहीं किया।' ऐसे हालात पैदा हुए कि मदनलाल ने 1 जुलाई, 1909 को कर्जन वाइली की हत्या कर दी। परिणाम स्वरूप उनको फांसी की सजा मिली। इस हत्या के पीछे श्यामजी का कोई हाथ नहीं था, फिर भी उन्होंने कहा, 'मैं उनके कार्य का समर्थन करता हूँ और उन्हें .... महान शहीदों में मानता हूँ।

कर्जन वाइली की हत्या से बहुत पहले ही इंडिया हाउस की गतिविधियों और इंडियन सोशियोलॉजिस्ट पत्रिका में छपनेवाले उत्तेजक लेखों के कारण ब्रिटेन की सरकार सजग होने लगी थी। ब्रिटिश समाचार पत्र एक स्वर से श्यामजी का विरोध करने लगे थे। 'इंडियन क्रिश्चियन यूनियन' के प्रेसीडेंट एस.पी. भाबा ने कहा था कि कृष्ण वर्मा एक ऐसे व्यक्ति हैं, जिनके शब्द मर्मस्थल को छूनेवाले हैं। इन्हीं कारणों से श्यामजी ने 1908 में लंदन के स्थान पर पेरिस को अपना केन्द्र बनाया। उनकी अनुपस्थिति में विनायक दामोदर सावरकर ने इंडिया हाउस और पत्रिका दोनों का दायित्व लिया, किन्तु 1909 में इंडिया हाउस को बंद करना पड़ा।

पेरिस में श्यामजी को सरदार सिंह राणा और मादाम भीकाजी कामा का पूरा सहयोग मिला। मादाम कामा और श्यामजी यूरोप के क्रांतिकारियों के तथा रूस के क्रान्तिकारी लेखक मैक्सिम गोर्की से निरंतर संपर्क में रहे। गोर्की ने श्यामजी को 'भारत का मेजिनी' कहा था। पेरिस से ही उन्होंने 'वंदे मातरम्' नामक पत्र का प्रकाशन किया, जिसके संपादन का कार्यभार लाला हरदयाल पर था। यह पत्र बहुत कम समय तक प्रकाशित हो सका। 1909 में श्यामजी ने खुदीराम बोस, प्रफुल्ल चाकी, कन्हाई लाल दत्त और सत्येन्द्र बसु के नाम चार छात्रवृत्तियाँ घोषित कीं। बाद में गणेश सावरकर और हेमचन्द्र दास के नाम से दो और छात्रवृत्तियों की घोषणा की। फ्रांस की भूमि पर ब्रिटेन के द्वारा वीर सावरकर को बंदी बनाये जाने की घटना का भी श्यामजी ने घोर विरोध किया; क्योंकि इससे अंतर्राष्ट्रीय कानून की अवहेलना हुई थी। उन्हीं के प्रयत्नों के फलस्वरूप यह मामला हेग की अंतर्राष्ट्रीय अदालत में गया था। किन्तु ब्रिटिश प्रभाव के कारण न्याय नहीं मिल सका।

यूरोप महाद्वीप से राजनीतिक परिवर्तनों के कारण श्यामजी ने पेरिस के स्थान पर जेनेवा में रहने का निर्णय लिया। 23 अप्रैल, 1914 को वे जेनेवा चले गये। वीर सावरकर के बंदी हो जाने के बाद श्यामजी ने स्वयं को 'इंडियन सोशियोलॉजिस्ट' तक ही सीमित कर लिया था। यह भी 1914 में बंद हो गयी। बाद में दो–तीन वर्ष और प्रकाशित होने के बाद सितम्बर 1922 में इस पत्रिका को सदा के लिए बंद करना पड़ा।

स्विस सरकार की चेतावनी के कारण जेनेवा में रहकर श्यामजी राजनीतिक गतिविधियों में भाग नहीं ले सकते थे। श्यामजी ने जेनेवा के फ्लैट में पत्नी भानुमती के साथ अपनी पुरानी यादों, पुराने साहित्य, पुराने समाचार पत्रों, 'इंडियन सोशियोलॉजिस्ट' की पुरानी प्रतियों के बीच अपने जीवन के अंतिम वर्ष व्यतीत किये। 30 मार्च, 1930 को जेनेवा के एक अस्पताल में उनकी मृत्यु हुई। जेनेवा के स्थानीय प्रशासन के सहयोग से श्यामजी अपने तथा अपनी पत्नी के लिए, आगामी सौ वर्ष के लिए यह व्यवस्था कर गये थे कि भारत की स्वतंत्रता के बाद उनके भस्मावशेष भारत भेज दिये जाएँ। अगस्त 2003 में गुजरात के मुख्यमंत्री नरेन्द्र मोदी ने श्यामजी के अवेशष जेनेवा से मांडव लाकर बहुत देर से ही सही, उनकी अंतिम इच्छा पूर्ण की।

विचित्र संयोग है कि नरेन्द्र मोदी के ही प्रधानमंत्रित्व काल में, अभी हाल ही में एक और घटना घटित हुई। ब्रिटिश सरकार ने गाँधीजी और श्यामजी कृष्ण वर्मा, केवल इन्हीं दो व्यक्तियों का, ब्रिटिश बार काउंसिल का प्रमाणपत्र (सनद) जब्त कर लिया था। ब्रिटेन के प्रधानमंत्री डेविड कैमरन की पहल पर श्याम जी का यह प्रमाणपत्र वापस किया गया, जिसे प्रधानमंत्री ने गुजरात की मुख्यमंत्री आनंदी बेन पटेल को हस्तांतरित किया। आनंदी बेन ने 19 दिसम्बर, 2015 को उसे 'श्यामजी कृष्ण वर्मा मेमोरियल ट्रस्ट को सौंप दिया। नरेन्द्र मोदी ने स्वीकार किया कि श्यामजी के दोनों अधूरे कार्यों को पूर्ण करने का सौभाग्य उन्हें प्राप्त हुआ।

श्यामजी कृष्ण वर्मा के लिए प्रसिद्ध क्रांतिकारी इतिहासकार मन्मथ नाथ गुप्त का यह कथन सत्य है कि उन्हें भारत का प्रथम आधुनिक क्रान्तिकारी कहा जा सकता है। इस क्रांतिदूत ने विदेश में रहकर भारतीय युवकों के हृदय में ब्रिटिश शासन से मुक्त होने की जो चाहत पैदा की, उसे भुलाया नहीं जा सकता। केवल यही नहीं, उनकी क्षत्रछाया में रहकर कुछ ऐसे युवक तैयार हुए, जिन्होंने प्रथम विश्वयुद्ध के समय अमरीका को केन्द्र बनाकर भारत सरकार की फौज में विद्रोह की ज्वाला प्रज्वलित करने की चेष्टा की। 1930 में श्यामजी कृष्ण वर्मा की मृत्यु पर लाहौर षड़यंत्र केस के बंदियों की ओर से भेजे गये शोक संवेदना संदेश में यह कहा गया था कि भारत की मुक्ति क लिए उनका आजीवन संघर्ष एक राष्ट्रीय धरोहर है, जो स्वातंत्र्य संग्राम के साथियों को सदैव उत्प्रेरित करता रहेगा।

कविता

श्रीविजय कुमार सप्पत्ति
सिकन्दराबाद, तेलंगाना
9849746500

सिलवटों की सिहरन

अक्सर तेरा साया
एक अनजानी धुंध से चुपचाप चला आता है
और मेरे मन की चादर में सिलवटें बना जाता है...

मेरे हाथ, मेरे दिल की तरह
कांपते है, जब मैं
उन सिलवटों को अपने भीतर समेटती हूँ...

तेरा साया मुस्कराता है और मुझे उस जगह छू जाता है
जहाँ तुमने कई बरस पहले मुझे छुआ था,
मैं सिहर सिहर जाती हूँ,
कोई अजनबी बनकर तुम आते हो
और मेरी खामोशी कोआग लगा जाते हो...

तेरी यादों का एहसास मेरी चादरों में धीमे–धीमे उतरता है
मैं चादरें तो धो लेती हूँ पर मन को कैसे धो लूँ
कई जनम जी लेती हूँ तुझे भुलाने में
पर तेरी मुस्कराहट
जाने कैसे बहती चली आती है
न जाने, मुझपर कैसी बेहोशी सी बिछा जाती है....
कोई पीर पैगम्बर मुझे तेरा पता बता दे,
कोई माझी तेरे किनारे मुझे ले जाए,
कोई दे बाता तुझे फिर मेरी मोहब्बत बना दे...
या तो तू यहाँ आ जा,
या मुझे वहाँ बुला ले...

।।2 ।।

कहीं कोई नहीं है जी...

कहीं कोई नहीं है जी... कोई नहीं,
बस यूँ ही था कोई
जो जाने अनजाने मैं
बस गया था दिल में...
पर वो कोई नहीं है जी...

एक दोस्त था जो अब भी है
जो कभी कभी फोन करके
शहर के मौसम के बारे में पूछता है,
मेरे मन के आसमान पर
उसके नाम के बादल अब भी है...
पर कोई नहीं है जी...

कुछ झूठ है इन बातों में
और शायद थोड़ा–सा सच भी है
जज्बातों से भरा हुआ वो था
उम्मीदों की जागीर थी उसके पास
पर मैंने ही उसकी राह पर से
अपनी नजरों को हटा दिया
पर कोई नहीं है जी....

कोई है, जो दूर होकर भी पास है
और जो होकर भी कहीं नहीं है
बस कोई है... 'कहाँ हो, जानू...'
क्या..... कौन....
नहीं नहीं कोई नहीं है जी...

मेरे संग उसने ख्वाब देखे थे चंद
कुछ रंगीन थे, कुछ सिर्फ नाम ही थे
है कोई जो बगाना है, पता नहीं
है कोई अपना नहीं, सच में
मेरा अपना नहीं, सच में
कोई नहीं है वो जी...

कोई साथी सा था...
हमसफर बनना चाहता था
चंद कदम हम साथ भी चले..
पर दुनिया की बातों में
मैं आ गयी
बस साथ छूट गया
कोई नहीं है जी...
कोई चेहरा सा रहता है,
ख्यालों में... याद का नाम दूँ उसे?
कभी कभी अक्सर अकेले में
आँसू बनकर बहती है
कोई नहीं था जी...

बस यूँ ही
मुझे सपने देखने की आदत है
एक सच्चा सपना गलती से
देख लिया था
कोई नहीं है जी, कोई नहीं है...

सच में ...पता नहीं
लेकिन कभी–कभी मैं
गली के मोड़ तक जाकर आती हूँ
अकेले ही जाती हूँ और
अकेले ही आती हूँ
कहीं कोई नहीं है ....
कोई नहीं....जी....

भेंट वार्त्ता

सिद्धांतकर

मोहनदास नैमिशराय
बी.जी. 5/30 बी, पश्चिम विहार, नई दिल्ली
मो०–9350862298

ऑटो से उतरकर सड़क पर आया, तो नई दिल्ली रेलवे स्टेशन के सामने एक बड़ा साइनबोर्ड लगा देखा। नजरें अनायास ही उधर उठ गयीं। एक तरफ पूर्व राष्ट्रपति कलाम साहब का चित्र था, तो दूसरी ओर उसी चित्र के समानांतर उनका कथन था, 'सपने वे नहीं होते, जो रात में आदमी देखता है। सपने वे होते हैं, जो रात में किसी को सोने नहीं देते।' मरकरी बल्ब की रोशनी में चमकते–दमकते वे शब्द जैसे मेरे लिए कोई इबारतें थीं। मैं मंत्रमुग्ध था। रात के आगोश में कुछ देर तक मैं खड़े हुए वह सब पढ़ता रहा। पढ़ते हुए उनके प्रभावशाली कथन में इतना खो गया कि और न जाने कितनी देर तक खड़ा रहता, अगर पीछे से कार के हार्न की आवाज नहीं आती।

मुझे लखनऊ मेल पकड़नी थी। जेब से टिकट निकालकर पहले उसमें छपे हुए समय को पढ़ा। फिर सामने दीवार पर लगी घड़ी की ओर देखा। अभी थोड़ा समय था। इसलिए सहजता से सड़क पार कर रेलवे स्टेशन के अहाते में प्रवेश कर गया। प्लेटफार्म एक पर आया तो भीड़ बढ़ गयी थी। यात्री बच्चों के साथ सामान की पोटली और गठिया उठाये भागे चले जा रहे थे। प्लेटफार्म एक से ही पुल पार कर मुझे प्लेटफार्म तीन पर जाना था। मेरे पास कुछ विशेष सामान नहीं था। सिर्फ एक हैंडबैग जिसमें दो पुस्तकें, एक नोट बुक, दो पेन और दो जोड़ी कपड़ों के साथ तौलिया और साबुन वगैरह।

ट्रेन में मेरा आरक्षण था। तीन नंबर प्लेटफार्म पर गाड़ी लग चुकी थी। स्लीपर कम्पार्टमेंट में अपने नंबर की बर्थ तलाश कर मैं वहाँ बैठ गया था। मेरे सामने दो व्यक्ति पहले से ही बैठे थे। धीरे–धीरे लोग आने लगे और अपनी–अपनी बर्थ पर काबिज होने लगे थे। गर्मी का मौसम था। कंपार्टमेंट ने तेज आवाज के साथ पंखे चलने लगे थे। थोड़ी देर में ट्रेन चलनी शुरू हुई।

मेरा भी एक सपना था, जिसे पूरा करने के लिए मैं दिन–रात लगा रहता था। मेरे भीतर बेचैनी थी। मेरे भीतर जो बेचैनी थी, शायद वही मुझसे वह कार्य पूरा करने हेतु प्रेरित भी करती थी। मुझे दो माह पूर्व एक एसाइनमेंट मिला था, जिसके तहत मुझे अम्बेडकर और लोहिया पर पुस्तक लिखनी थी। दिल्ली में रहते हुए कुछ समाजवादियों के साक्षात्कार लिये थे। दिल्ली के ही एक पुस्तकालय में साथी ने बताया था। अगर कुछ सीरियसली काम करना चाहते हैं तो दिल्ली के बाहर निकलिये। उन्होंने ही मेरे पूछने पर सुबह सिंह का नाम और पता बतलाया था। यह भी बतलाया कि वे अम्बेडकर और लोहिया दोनों से वे मिल चुके हैं। उन्हें दो महापुरुषों के बीच की कड़ी भी कह सकते हैं। एक–दो बार मैंने सुबह सिंह के द्वारा लिखे आलेख भी पढ़े थे। जैसे–जैसे गाड़ी लखनऊ के करीब पहुँचती जा रही थी। उनसे मिलने और उनके बारे में जानने की जिज्ञासा बढ़ती जा रही थी। सुबह सिंह कैसे होंगे, कैसे कपड़े पहनते होंगे, कैसे बोलते होंगे?वे उ.प्र. में विधायक रह चुके थे। विधायक होने की थोड़ी बहुत गर्मी तो शेष रही होगी और लखनऊ की नफासत भी। ऐसी कितनी ही बातें मेरे भीतर घुमड़ रही थीं। यही सब सोचते–सोचते मुझे नींद आ गयी।

सुबह हुआ तो लखनऊ हाजिर था। गाड़ी सही समय पर थी। लखनऊ रेलवे स्टेशन से रॉयल होटल अधिक दूर नहीं था। टेम्पोवाले ने नजदीक ही उतारते हुए बतलाया–

'ऊ देखो रॉयल होटल।'

'कहा...?'

मेरे मुँह से निकला, पर टेम्पो आगे निकल चुका था। मैं हैरत में रह गया यह सोचकर कि कहीं टेम्पो चालक गलत जगह तो नहीं उतार गया। तभी मैंने सड़क पर चलते हुए एक व्यक्ति से पूछा। उसने भी उसी तरफ संकेत किया, जिस दिशा में टेम्पोवाले ने बताया था। मेरा आश्चर्य बढ़ने लगा था। मैं थोड़ा और नजदीक आ गया था। सामने एक खंडहरनुमा इमारत थी। जिसमें दो–तीन कमरे बने हुए थे। नजदीक ही ढाबा था। मैं असमंजस में था यह सोचकर कि यह खंडहरनुमा इमारत रॉयल होटल कैसे हो सकता था। पुनः मैंने उसी तरफ जाते हुए एक व्यक्ति से पूछा, तो उसने बड़ा अटपटा–सा जवाब दिया–'ऊ क्या है?दिखलाई नहीं देता।'

'ऊ...।' मेरे होठों से भी उभरा। अब मैं बिल्कुल उसी रॉयल होटल बनाम खंडहर के सामने आ गया था। जैसे इतिहास का कोई अध्याय मेरे सामने खुलने लगा था। सभी के कहने पर मेरे पास विश्वास न करने का कोई चारा न था। तभी एक युवक, खंडहरनुमा इमारत से बाहर आता दिखलाई दिया।

मैंने पूछा, 'सुनिये, यहाँ सुबह सिंहजी रहते हैं?'

तत्काल वह बोला, 'अरे भाई!सिद्धांतकार की बात कर रहो हो क्या?'

'हाँ, हाँ...।' मुझे कहना पड़ा।

'वह सामनेवाला कमरा है ना, उसी में मिलेंगे।' कहते वह युवक चला गया।

मैं धीमे कदमों से चलते हुए उस कमरे तक पहुँचा। दरवाजे से देखा। पुराने भीत पर टंगी छत। छत पर झूलता पुराना पंखा। दीवार में गड़ी हुई लकड़ी की चार–पाँच खुँटियाँ, जिनपर लटके कपड़े और थैले। सामने की दीवार के बीचोबीच बाता साहेब डॉ. अम्बेदकर और डॉ. राममनोहर लोहिया के चित्र। नीचे फर्श पर बिछा तख्त, तख्त पर बैठा हुआ पतला–दुबला खिचड़ीवालों वाला एक व्यक्ति। मेरे भीतर से स्वयं उभरा, 'क्या यही सुबह सिंह हैं?'

तभी उस व्यक्ति की नजर मेरी तरफ उठी। अनायास पूछ बैठे वे, 'किससे मिलना है भई?'

उस असाधारण व्यक्तित्व वाले साधारण व्यक्ति को देखकर मुझे महसूस हुआ, यही वह शख्सियत है, जिसकी तलाश करते हुए मैं लखनऊ आया हूँ। इसलिए मेरे मुँह से निकला, 'आपसे ही।'

वे तत्काल बोले, 'अरे, तो आओ न भई। दरवाजे पर क्यों ठिठके खड़े हो?'

मैं भीतर गया। उन्होंने तख्त पर ही बैठने का संकेत किया; क्योंकि नजदीक जो कुर्सी पड़ी थी, वह टूटी हुई थी। मेरे बैठते ही पूछा उन्होंने, 'कहाँ से आये हो?'

जवाब में मैंने कहा, 'दिल्ली से।'

'ओह...।' कहते हुए उन्होंने आवाज दी, 'अरे मनसा जी! एक चाय तो ले

आओ जल्दी से।'

थोड़ी देर में एक पचास वर्षीय व्यक्ति गिलास में चाय ले आया। सुबह मुझे चाय की जरूरत भी थी। चाय पीते हुए अच्छा लगा। इस बीच उन्होंने फिर पूछा, 'क्या करते हो भई दिल्ली में?'

'पत्रकार हूँ।'

उनके मुँह से निकला, 'अच्छा...।'

कहने के पश्चात् उन्होंने एक भरपूर दृष्टि मुझपर डाली थी। तभी एक व्यक्ति कुर्ता–पायजामा पहने आए और पूछा, 'कैसे हैं सिद्धांतकारजी?'

'ठीक हूँ भैया, तुम बताओ।'

कुछ पल बाद उन्होंने फिर मनसा जी को चाय के लिए कहा, 'अरे मनसा जी, एक ठो चाय तो ले आओ।'

जल्दी ही मनसा गिलास में चाय ले आया। उस व्यक्ति ने चाय पीते हुए कुछ जरूरी बातें कीं। फिर वह चला गया। तब वे बोले, 'कहो, इधर कैसे आना हुआ?'

मैंने बताया, 'आपका साक्षात्कार लेना था। थोड़ा ठहरकर मैंने फिर कहा, 'एक एसाइनमेंट के तहत डॉ. अम्बेडकर और लोहियाजी पर पुस्तक लिख रहा हूँ।'

'पहले स्नान आदि कर लो। नाश्ता भी ले लो, फिर बैठते हैं।

नजदीक ही टॉयलट कम बाथरूम था। मैंने जरूरी कपड़ों के साथ तोलिया लिया और अंदर चला गया। जैसा रॉयल होटल का कमरा, वैसा ही बाथरूम। बिना प्लास्तर की दीवारें, छत पर भी प्लास्तर न था। यहाँ तक कि फर्श की ईंटें भी साफ दिखाई दे रही थीं। बाहर से दरवाजा भी मुश्किल से लगा। तब जाकर नहाना आदि हुआ। जल्दी से बाहर आ गया। जैसे ही वह कपड़े पहने कमरे में आया। उसने देखा। तख्त के ठीक सामने एक पुरानी छोटी आलमारी मेज के रूप में रख दी गयी थी। जिस पर पुरानी चादर बिछा दी गयी थी। तभी मनसा थाली में आलू के दो पराठे थोड़ी दही ले आया। सुबह सिंहजी तख्त पर बैठे हुए अखबार पढ़ रहे थे। मैंने नाश्ता समाप्त किया तो वे कह उठे, 'बताइये...।'

मैंने नोटबुक खोलकर पेन हाथ में ले लिया था। इससे पहले कि मैं कोई सवाल करूँ, उन्होंने कहना शुरू किया।

मेरा जन्म बलिया के एक गाँव में हुआ। पिताजी का नाम समय सिंह और माताजी का नाम रुक्मो देवी। पिता भूमिहीन मजदूर थे। क्योंकि मुझे भी साथ मजदूरी करनी पड़ती थी। मैं नहीं करता, तो माँ करती। गाँव में स्कूल नहीं था। चार मील दूर कस्बे में पढ़ने जाना पड़ता था। चार मील जाना और चार मील पैदल ही वापस लौटना। फिर पिताजी के साथ मजदूरी करना। बड़ी मुश्किल से मैंने मिडिल पास किया। शिक्षा प्राप्त हुई, तो नई दुनिया मेरे सामने खुली। समझ भी आई। इस बीच डॉ. अम्बेडकर को पढ़ा। दलितों पर अत्याचार क्यों होते हैं, यह भी समझ आया। डॉ. लोहिया का साहित्य भी पढ़ा। बाद में जयप्रकाश नारायण से मुलाकात भी हुई। गाँव–टोले में गये। लोगों से बातें कीं। किसानों की परेशानी महसूस की। खेतिहर मजदूरों के दुखों को जाना। कहकर वे थोड़ा ठहरे। पानी लोटे से मुँह लगाकर फिर पिया। पुनः उन्होंने अपने बारे में कहना शुरू किया।

'इस तरह गाँव–गाँव में जाना शुरू हुआ। साथ में अन्य साथी भी होते। कभी–कभी गाँव में ठहर जाते। कौन घर में रात बितायी, किसके यहाँ भोजन किया? उसकी कौन जात थी? न हमने पूछा, न उसने बतलाया।'

तभी मैंने बीच में पूछा, 'सिद्धांतकार जी, इसका अर्थ यह हुआ कि तब जात के सवाल उस तरह से नहीं उभरे थे?'

मेरी बात सुनकर पहले वे थोड़ा मुस्कुराये और बोले, 'अरे, आप भी हमें सिद्धांतकार कहने लगे। हम कहाँ सिद्धांतकार हो गये? सिद्धांतकार तो ऊ बाबा साहेब अम्बेडकर और डॉ. राममनोहर लोहिया जी रहे हैं।' दीवार पर लगे इन दोनों महापुरुषों के चित्रों की तरफ अंगुली से इशारा किया था उन्होंने। पुनः वे बोले, 'आप जो भईया, जात की बात कह रहे हो तो मेरा इस बारे में जवाब है कि तब लोग जात को अपने ऊपर चिपकाते नहीं थे।

सुनकर मेरे मुँह से अनायास निकला, 'मैं समझा नहीं।'

तपाक से वे बोले, 'आप कैसे पत्रकार हो, इतनी–सी बात भी नहीं समझे। मैं कहना यही चाहता हूँ कि उन दिनों बात–बात में जात–जात नहीं उभरती थी। लोग साथ–साथ रहते थे और झगड़ा–टंठा भी उनके बीच होता था।

मेरा अगला सवाल था, 'आप राजनीति में कबसे आये?'

झट से वे बोल पड़े, 'ऊही तो हम बताने जा रहे थे। साठ का दशक था। उत्तरी भारत में समाजवादियों का आंदोलन उठान पर था। इधर रिपब्लिकन पार्टी भी जोरों पर थी। महाराष्ट्र से जो बाबा साहेब का आंदोलन शुरू हुआ, उसका प्रभाव हिन्दी क्षेत्रों में ज्यादा हुआ।

'फिर...।' मेरे मुँह से निकला।

तत्काल जवाब में वे बोले, ''मेरी बाबा साहब डॉ. अम्बेडकर और डॉ. लोहिया जी से तो मुलाकात हो ही चुकी थी। बल्कि लोहियाजी ने ही एक दिन पूछा, 'सुबह सिंह चुनाव लड़ोगे?' मुझसे कोई जवाब देते न बना। फिर मेरा राजनैतिक रुझान भी नहीं था।'' कहकर उन्होंने मेरी ओर देखा।

इस बीच मैंने पूछा, 'तब आपने चुनाव लड़ा?'

पहले थोड़ा वे मुस्कुराये, फिर बोले, 'बताते हैं, तुमलोगों को यही जल्दबाजी होती है। हर बात में जल्दबाजी।' जैसे उन्हें कुछ याद आ गया था। उन्होंने आवाज दी, 'दो ठो चाय तो ले आओ।'

जल्दी ही दो गिलास में एक दस वर्षीय बच्चा चाय ले आया। चाय के गिलास मेरी तरफ बढ़ाते हुए उसने नमस्ते की। मैंने भी नमस्ते कहा। सुबह सिंहजी ने चाय पीते हुए बताया कि यहीं सड़क पर पैदा हुआ। सड़क पर ही खेला और सड़क पर ही पढ़ने लगा। जब सारी दुनिया सो जाती है, तो सामनेवाली सड़क पर लगे खंभे की लाइट के नीचे बैठकर पढ़ता है। डॉ. अम्बेडकर भी तो रात में ऐसे ही पढ़ते थे। बच्चा अभी वहीं खड़ा था।

मैंने पूछा, 'क्या नाम है बेटे तुम्हारा?'

बच्चे ने जवाब दिया, 'राकेश भारतीय।'

अगला सवाल मैंने किया, 'कौन–सी कक्षा में पढ़ते हो?

वह बोला, 'सातवीं में।'

मेरे मुँह से निकला, 'गुड।'

तभी उन्होंने कहा, 'जाओ बचवा।'

सुनकर बच्चा चला गया। तब उन्होंने पूछा, 'हम कहाँ थे पत्रकार महोदय?'

मैंने कहा, 'राजनीति के नजदीक आ रहे थे।'

वे पहले मुस्कुराये, फिर बोले, 'तुमने ठीक पकड़ा।' कहकर उन्होंने लोटे से मुँह लगाया और गटगट पानी पीने लगे। बाद में उनके होठों से हूँ निकला और कहा, 'असल बात यह है कि राजनीति के नजदीक मैं था नहीं, बस

समझ लीजिए पत्रकार महोदय, कुछ परिस्थितियाँ ले आयीं। फिर लोहियाजी का अनुग्रह। एक बार नहीं, कई बार उन्होंने मुझसे कहा तुम्हें राजनीति में आना है सुबह सिंह, तुम्हें चुनाव लड़ना है। कहते हुए जैसे वे अतीत में खो गये थे। वे फिर बोले, मैंने कहा भी था, 'लोहियाजी आपके कहने से चुनाव लड़ तो लूँगा, लेकिन पैसा कहाँ से आवेगा?' कहते हुए उन्होंने पलभर मेरी ओर देखा और फिर पूछा, 'जानते हो, लोहियाजी ने क्या कहा?'

मेरे मुँह से निकला,'क्या कहा था लोहियाजी ने?'

जवाब में वे बोले, 'तुम पैसों की चिंता मत करो। फिर बिना पैसे के भी तो चुनाव लड़ा जा सकता है। राजनीति में एक अच्छा प्रयोग भी हमें करके दिखाना चाहिए। आखिर आदर्श की बातें किताबों तक ही क्यों सीमित रहें?'

उनका वाक्य जैसे ही पूरा हुआ, मैं पूछे बिना न रह सका। 'फिर क्या हुआ?'

तत्काल वे बोले, 'होना क्या था, लोहियाजी कुछ कहें और ना हो भला। ऐसा कैसे हो सकता था। लोहियाजी का दबदबा था उन दिनों। आम आदमी के बीच उनकी गहरी पैठ थी। मैंने उनका कहना मान लिया। लोगों ने भी माना। चुनाव का पर्चा भर दिया। लोग जुड़ने लगे। खुद पर्चे लिखते, अपने खर्चे से छपाते और बाँटते। सब कुछ जनता ने किया।'

इस बीच मेरा स्वर उभरा, 'तब...।'

उनका जवाब उभरा, 'मैं चुनाव जीत गया। कुछ लोग मिठाई लेकर आये। कुछ लोग मेरे लिए कपड़े लेकर आये। मेरे पास तो एक जोड़ी कपड़े ही थे। उन्हीं को रोज धोता, वही पहनता था। पर लोहियाजी एक सूत्र लेकर आये।

मेरे मुँह से निकला, 'एक सूत्र लेकर...।'

वे बोले, ''हाँ, एक सूत्र लेकर। लोहियाजी ने कहा था–'देखो, सुबह सिंह! सिद्धांतों को कभी जीवन से अलग न करना। सिद्धांत है तो जीवन है। सिद्धांत नहीं है, तो जीवन का कोई अर्थ नहीं।' उसी दिन से मैंने उनके उस सूत्र को अपने जीवन से जोड़ लिया था।''

इस बीच मैं यह सवाल किये बिना नहीं रह सका। 'आपकी बाबा साहेब डॉ. अम्बेडकर से कब और कहाँ मुलाकात हुई?'

थोड़ा सोचते हुए बोले वे, ''मेरठ के भँसाली मैदान में आये थे। जहाँ तक मुझे याद है 3 मई का दिन था और बरस था 1953। दलित समाज के बहुत बड़ी संख्या में लोग आये थे उनका भाषण सुनने। मेरे भीतर भी न जाने कब से उनसे मिलने की इच्छा थी। उन्होंने अपने भाषण के अंत में कहा था। गुलाम बनकर नहीं, स्वाभिमान से जियो। चलते–चलते थोड़ी मुलाकात भी हुई थी। मेरा नाम पूछा उन्होंने। जवाब में मैंने बताया, 'सुबह सिंह।' सुनकर अच्छा लगा। खुद लोहिया जी ने एक बार कहा था, 'कभी समय निकालकर डॉ. अम्बेडकर से मिलना। मैं तो कई बार मिल चुका हूँ। बहुत ज्ञानी आदमी हैं वे दलितों के हमदर्द भी।' वे जब अपनी बात कहते तो कहते चले जाते थे। वे जितना कुछ कहते, नये संदर्भ उभरते, नई बातों का पता चलता। समाज के बदलाव की जानकारी मिलती।''

उनकी बात खत्म हुई तो मैंने पूछा, 'अच्छा सिद्धांतकर जी यह बतलाइये कि विधायक बनने के बाद राजनीति के कैसे अनुभव हुए आपके?'

सुनकर तत्काल थोड़ी नाराजगी के स्वर में बोले वे, 'अरे काहे सिद्धांतकारजी सिद्धांतकारजी की रट लगा रहे हो, हमें हमारा नाम से पुकारो...। कहने के बाद पलभर रुके फिर बोले, 'देखिये पत्रकार महोदय! विधायक बनने के बाद मेरे पास सभी तरह के लोग आते हैं। अच्छे भी और बुरे भी, अमीर भी और गरीब भी। कुछ मेरे लिए उपहार लाते, कपड़े–लत्ते लाते। मैं उन्हें लेने से इंकार भी नहीं करता और उनका प्रयोग भी नहीं करता।'

इसी बीच मेरे मुँह से निकला, 'मैं समझा नहीं।'

पहले वे मुस्कुराये, फिर कहा, 'जो भी सामान मुझे मिलता, मैं सब बाँट देता। ई देख रहे हो हमारे कुर्ता–पाजामा, विधायक बनने के पहले सिर्फ एक जोड़ी हुआ करता था। रात होते–होते धो लिया और सुबह वही पहन लिया। बाद मे केवल दो जोड़ा ही रखा। का करोगे, इनका अम्बार लगाकर। धन–सम्पत्ति, कपड़ा–लत्ता, मकान–दुकान, कोटे–परमिट, खेत–खलिहान। बात करोगे सिद्धांत की और रखोगे सब कुछ। कैसे समाजवाद आवेगा?हमको बतलाओ तनिक पत्रकार महोदय।'

'हमें मदद करनी चाहिए। मनसा जी मेरे ही गाँव के थे। वे दूसरी जाति से। मैंने कभी उनकी जाति के बारे में सोचा तक नहीं। आंदोलन में मेर साथ रहे राजनीति में भी। मैं कार्यकर्ता से विधायक बन गया। वे कार्यकर्ता ही रहे। अब भला मैं उन्हें कैसे छोड़ सकता था।'

मैंने बीच में कुछ कहना चाहा, पर वे धाराप्रवाह बोल रहे थे, 'अगर एक आदमी भी अपने से पीछे चलनेवाले किसी एक आदमी का भी चलते–चलते हाथ थाम ले तो बहुत बड़ा सुधार हो सकता है। नारेबाजी से आज तक न किसी जाति का सुधार हुआ है और न होगा। उसके लिए अपने भीतर जज्बा पैदा करना होता है।'

उनकी बात जैसे खत्म हुई, मैंने सवाल किया,'सुबह सिंह नाम कैसे रखा गया आपका, क्या किसी पंडित ने...।'

वे थोड़ा मुस्कुराये। फिर बोले, 'अरे नहीं भई! पंडित हमारे नाम क्यों रखता?असल में मेरा जन्म पौ फटते ही हुआ। इस तरह सुबह ही सुबह जन्म होने के कारण मेरे पिता ने मेरा यही नाम रख दिया।'

मुझे रात की ट्रेन से वापस दिल्ली भी जाना था। सवाल बहुत थे और जवाब भी। सुबह सिंह के भीतर बहुत कुछ था। आंदोलन, समाज सेवा। राजनीति में रहते हुए उन सबके साथ वे आगे बढ़ाते रहे। ट्रेन में बर्थ पर लेटे हुए उनकी एक ही बात अभी भी गूँज रही थी। अगर एक आदमी अपने से पीछे चलने वाले किसी एक आदमी का भी चलते–चलते हाथ थाम ले तो बहुत बड़ा सुधार हो सकता है। नारेबाजी से आज तक न किसी जाति का सुधार हुआ है और न होगा। उसके लिए अपने भीतर जज्बा पैदा करना होता है।

मैं जब रात में रॉयल होटल से चलने लगा तो सुबह सिंहजी ने यह कहते हुए कि समय निकालकर इन्हें पढ़ लेना, कुछ पेपर्स मेरे हाथ में थमा दिये। सोने से पहले लाइट ऑन कर मैं पढ़ने लगा। आजीवन अविवाहित रहने का उन्होंने निश्चय किया था। दूसरे विधायक होने के नाते जो पैसा मिलता था, उसका आधा वे गाँव में चल रहे स्कूल को दे दिया करते थे। तीसरे रॉयल होटल यानी विधायक निवास की जब नई बिल्डिंग बनने लगी तो, मनसा की चाय की दुकान को हटाया जाने लगा। उसके प्रतिरोध में सिद्धांतकार जी ने उ.प्र. सरकार पर केस दायर किया। वह केस अभी भी अदालत में है। हालाँकि कई बार उन्हें विधानपरिषद् में लिये जाने का आफर भी मिला है। अन्य पद और सुविधा की भी पेशकश हुई, लेकिन उन्होंने सभी को यह कहते हुए ठुकरा दिया। जहाँ मनसा रहेगा, वहीं सुबह सिंह। यह सब पढ़ते हुए मेरे मन में उनके प्रति श्रद्धा उमड़ पड़ी।

समीक्षा

कभी मोम, कभी बर्फ-सी

पिघलती है ज़िंदगी

डॉ. रविकान्त
सहायक प्रोफेसर लखनऊ विश्वविद्यालय
मो०–9451945847

'कभी मोम, कभी बर्फ–सी पिघलती है जिंदगी' युवा लेखिका पूनम तिवारी का दूसर कहानी–संकलन है। संग्रह में कुछ ग्यारह कहानियाँ हैं। आठ कहानियाँ स्त्री जीवन के इर्द–गिर्द बुनी गयी है, जबकि शेष कहानियाँ गरीबी और बदहाली पर केन्द्रित है। ये कहानियाँ लेखिका के ही शब्दों में 'कल्पना लोक से परे और हकीकत के आँगन से समेटी गयी है।' उनका यह भी दावा है कि 'इन कहानियों के पात्र हमारे इर्द–गिर्द हैं, जिनसे जन–साधारण किसी–न–किसी रूप में दिन–प्रतिदिन रू–ब–रू होता रहता है।'

जिंदगी एक कहानी है। एक ऐसी कहानी, जिसमें अनगिनत कहानियाँ होती हैं। हमारी अपनी, हमारे अपनों की और परायों की भी। कहानीकार का दायित्व है कि वह इन कहानियों को शब्द दे, रूप और आकार दे, उनमें रंग भरे। उनमें खुशियों को सँवारे और उदासियों को पनाह दे। कहानियों में अकेलेपन की आहट भी होती हो और भरे–पूरे परिवार की खनकती आवाजें भी। माने, कहानीकार को समाज के अच्छे–बुरे सभी पहलुओं को प्रस्तुत करना चाहिए। यह काम अपने दायरे में पूनम तिवारी ने बखूबी अंजाम दिया है। उन्होंने जिस सादगी से स्त्री जीवन की बारीकियाँ को अपनी कहानियों में चुना है, वह काबिले गौर तो है ही, काबिले तारीफ भी है।

क्या स्त्री सचमुच पहेली है?क्या आज भी त्रिया– चरित्र को नहीं समझा जा सकता है?सबसे मौजूँ सवाल तो यह है कि कोई त्रिया–चरित्र होता भी है। अगर होता है तो एक जरूरी प्रश्न उठता है कि त्रिया–चरित्र के बरबस कोई पुरुष–चरित्र भी होता है। अथवा पूछा तो यह जाना चाहिए कि पुरुष का भी कोई चरित्र होता है। इस संग्रह की कहानियाँ कुछ ऐसे ही सवालों से रू–ब–रू हैं। स्त्री होने के नाते वे पुरुष के चरित्र और उसके व्यवहार को समझ–जान लेने का दम नहीं भरतीं। हाँ, यह जरूर है कि लेखिका स्त्री जीवन के आभ्यंतर और बाह्य जगत् की वास्तविकता को बड़े करीने से बुनती हैं। प्रसिद्ध साहित्यिक विचारक रैल्फ फॉक्स के शब्दों में कहूँ तो लेखिका स्त्री जीवन का यथार्थ चित्रित करते समय स्त्री–मन के संघर्ष और बाह्य जगत् के संघर्ष की विभाजित रेखा को पाट देती है। वास्तव में तभी मनुष्य के जीवन के यथार्थ को समझा भी जा सकता है।

स्त्री जीवन के सच को उसके वर्तमान में जाना जा सकता है। लेकिन उसके जीवन के यथार्थ को समझने और परखने के लिए जरूरी है कि उसके इतिहास और अतीत की भी पड़ताल की जाए। भारतीय समाज के इतिहास में स्त्री जीवन का यथार्थ संकटग्रस्त, शोषित और संघर्षशील रहा है। इसीलिए समाजवादी चिंतक राममनोहर लोहिया स्त्री को पंचम वर्ण की संज्ञा देते हैं। सारी बौद्धिकता और सर्जकता तो पुरुषों के हवाले है। क्या सृजनात्मकता कलम से कागज पर उकेरना भर है?सच तो यह है कि स्त्री मौलिक रूप से सर्जक है। आज स्त्री दोहरा सृजन कर रही है। वस्तुतः स्त्री कभी पराजित न होनेवाली सृष्टि है। तमाम संघर्षों और प्रताड़नाओं के बावजूद उसने सृजन के दायित्व को कभी नहीं छोड़ा।

प्रख्यात आलोचक मैनेजर पांडेय के अनुसार– साहित्य पराधीनता से मुक्ति और स्वाधीनता की आकांक्षा की अभिव्यक्ति है। स्त्री और दलित लेखन के संदर्भ में पांडेय जी का यह कथन ज्यादा प्रासंगिक है। स्त्री विमर्श में पितृसत्ता, धर्मसत्ता और लोकसत्ता तीनों की तीखी आलोचना की गयी है। स्त्री पराधीनता की विभिन्न रूढ़ियों और आचार–व्यवहार इन्हीं सत्ताओं में समाहित है। स्त्री का कौमार्य या यौन शुचिता एक ऐसा आडंबर है कि जिसके तले स्त्री लगातार पिसती रही है। इन प्रश्न को लेखिका ने 'अक्षुण्यता पर प्रश्नचिह्न' कहानी में उठाया है। स्त्री के लिए यह प्रश्न आज भी उतना ही बेचैन करनेवाला है, जितना सदियों पहले था। आधुनिक परिवेश में स्त्री पराधीनता की कुछ कड़ियाँ जरूर टूटी हैं, लेकिन कौमार्यता का कटघरा आज भी उतना ही कठोर और दुर्दमनीय है। यह विडंबना ही है कि इक्कीसवीं सदी में भी सफल विवाह की बुनियाद के लिए इसका अक्षुण्य होना बेहद जरूरी है। यही कारण है कि मेडिकल साइंस के बाजार में रिकंस्ट्रक्ट का धंधा तेजी से फैल है।

आधुनिकता, लोकतंत्र, स्त्री अधिकार और परंपराओं से मुक्ति का सर्वाधिक प्रभाव स्त्री–पुरुष के वैवाहिक संबंधों पर हुआ है। पति–पत्नी के बीच तलाक के ढेरों मामले सामने आ रहे हैं। ये मामले उन परिवारों में सहज रूप से देखे जा रहे हैं, जिनमें पति–पत्नी दोनों आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर और स्वतंत्र है। तलाक का सर्वाधिक दुष्प्रभाव बच्चों पर होता है। 'अक्षुण्यता पर प्रश्नचिह्न', 'दर्द भरे ढेरों सवाल' और 'स्मृतियों का घरौंदा' कहानियों में लेखिका ने इस मुद्दे के विभिन्न पहलुओं को उजागर किया है। इन कहानियों में लेखिका ने एक ओर जहाँ तलाक से बच्चों पर होनेवाले प्रभाव को दिखाया है, तो दूसरी तरफ बच्चों के कारण ही नये रिश्ते में या पुनः उसी रिश्ते में बँधते और लौटते जीवन को दिखाया है। 'अक्षुण्यता पर प्रश्नचिह्न' कहानी की डिम्पल एक ऐसी लड़की है, जिसके माता–पिता अलग–अलग रहते हैं। वह बोर्डिंग स्कूल में डाल दी जाती है। हॉस्टल में सीनियर लड़कियों की सोहबत में वह सिगरेट, शराब और समलैंगिक संबंधों की गिरफ्त में फँस जाती है। आगे चलकर वह भी दूसरी लड़कियों की तरह कपड़ों की माफिक ब्वॉयफ्रेंड बदलती है। अंततः हाईस्कूल में बहुत कम अंकों में पास होती है। इस कारण डिम्पल के माता–पिता उसे लेकर पुनः एक साथ रहने का फैसला करते हैं। एक स्वस्थ परिवेश में पढ़ते हुए वह डॉक्टर बनती है। डॉक्टर बनी डिम्पल रिकंस्ट्रक्शन और एबॉर्शन के अनेक केस हैंडिल करती है।

पूनम तिवारी के इस संकलन की एक बड़ी विशेषता है–प्रेम की अक्षुण्यता। प्रेम सृष्टि की तरह साहित्य का भी शाश्वत विषय है। प्रेम मनुष्य की रागात्मक शक्ति का जीवंत रूप है। स्त्री–पुरुष संबंधों का घरौंदा प्रेम से ही मुकम्मल होता है। क्या प्रेम भी सफल–असफल होता है?प्रेम की पराकाष्ठा क्या है?क्या प्रेम की सफलता और उसकी पराकाष्ठा को वैवाहिक संबंध में देखा जा सकता है?लेखिका प्रेम की इन अनुभूतियों से टकराती हैं। उनके विचारों में प्रेम की डोर संबंधों के परे भी है। यही कारण है कि 'दर्दभरे ढेरों सवाल' की नायिका पहेली अपने प्रेमी अनंत से पहले शादी कर अपना घर बसाती है और एक बच्ची के जन्म के बाद तलाक लेती है। बाद में, वह पुराण के साथ अपना नया संसार रचती है। कुछ वर्षों बाद एक दिन बेटी इग्लू से फोन पर अनंत के अंत हो जाने की खबर सुनती है, तो पुराण को बिना बताये वह अपने पहले पति से अंतिम विदाई लेने और अपनी बेटी को छाती से लगाने

उसके शहर पहुँच जाती है। संभवत: आज वह अपने प्रेमी को देखने आती है, पति से मिलने नहीं। यह स्त्री के प्रेम की अंतर्धारा ही है, जो वर्षों बाद भी यहाँ खींच लाती है। इसे कोई त्रिया–चरित्र कहे, तो कहे।

प्रेम मुक्ति है। विवाह बंधन है। ऐसे में जब प्रेम–विवाह हो तो 'दो विरुद्धों का सामंजस्य' कबतक चल सकता है। यही कारण है कि हमारे समाज में स्त्री मुक्ति और अधिकार सम्पन्नता के नाम पर जो प्रेम विवाह होते हैं, वे शीघ्र ही विघटित हो जाते हैं। इसके कई कारण हैं। यहाँ उन कारणों का समाजशास्त्रीय या मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करना मेरा उद्देश्य नहीं है। पितृसत्तात्मक व्यवस्था में प्रेम का स्वरूप भी कम शोषणकारी नहीं है। ग्राम्शां मानते थे कि शोषण प्रेम के जरिये भी होता है। प्रेम करना, विवाह करना और फिर छोड़ देना स्त्री के लिए घोर यातनाकारी है। दरअसल हमारे समाज का ढाँचा ऐसा है कि स्त्री विवाह के पवित्र बंधन में ही सुशोभित होती है। पवित्रता बेहद नाजुक होती है। जैसे ही पवित्रता या विश्वास दरकता है, यह बंधन भी टूट जाता है। परित्यक्त स्त्री समाज में अशोभनीय बना दी जाती है। अगर वह जवान है तो उसकी समस्याएँ अधिक पीड़ादायक हो जाती हैं। पुरुष उसे आसान शिकार समझने लगता है। 'स्मृतियों का घरौंदा' कहानी की अपर्णा ऐसी ही स्थितियों से बावस्ता है। अपर्णा ने आमोद से प्रेम विवाह किया था। दो बच्चियों के जन्म के बाद वह अपर्णा को छोड़कर चला जाता है। ऐसे में वह ऑफिस से लेकर गली–कूचों तक पुरुषों की लोलुप नजरों का आए दिन शिकार होती थी। अपर्णा ने बेटियों को तो सँभाल लिया था, किन्तु वह अपने उफनते यौवन को सँभालने में बेवश थी। सुरेन्द्र वर्मा के प्रसिद्ध नाटक 'सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक' की शीलवती की तरह वह भी एक मामूली औरत थी। शरीर के माध्यम से ही वह जीती थी तो शरीर की माँगों को वह कैसे नकार सकती थी। किन्तु कामेच्छा के साथ–साथ अपर्णा एक प्रेम भरा विश्वास, एक छाँव और एक आसरा जरूर चाहती थी, जो उसे गगन से मिला। अपर्णा समाज के तिरस्कार और शरीर के सत्कार के आगे विवश थी। इसलिए वह गगन से विवाह करती है।

कतिपय आलोचक समकालीन कहानी लेखन को 'युवा कहानी आंदोलन' की संज्ञा देते हैं। इस समय की कहानियों को देखने से लगता है कि आज का युवा लेखक ज्यादा खुलेपन और खुले मन से कहानियाँ लिखता है। अपने आस–पास को वह अधिक तीव्रता और तीक्ष्णता से महसूस करता है। वर्तमान परिवेश की सुंदरता और विडंबना को वह एक साथ देख–भोग रहा है तथा सृजित कर रहा है। नगरों– महानगरों के युवाओं में पहले की अपेक्षा अधिक स्वच्छंदता देखने को मिल रही है। नवउदारवादी आर्थिक परिस्थितियों में युवा दूर–दराज के शहरों में जाकर अकेले पढ़ाई या नौकरी करते हैं, तो स्वाभाविक रूप से लड़के–लड़कियाँ एक दूसरे के नजदीक आते हैं। सामाजिक जिम्मेदारियों से बेपरवाह ये युवा पारस्परिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए लिव–इन में रहना शुरू करते हैं। सहसंबंध में रहकर जिंदगी उपभोग करना अब युवाओं को कतई बुरा या अनैतिक नहीं लगता। सभीक्ष्य संग्रह की कहानी 'रिश्ते का क्या नाम है' युवाओं के बनते सहसंबंध और अंतत: जिम्मेदारी के भाव से लबरेज रिश्ते की खूबसूरती को बयाँ करती हैं। गाँव से निकलकर दिल्ली विश्वविद्यालय में दाखिला लेनेवाली उन्नति मोहक से दोस्ती करती है। एम.बी.ए. करके दोनों नौकरी करते हुए लिव–इन में रहते हैं। मोहक इस रिश्ते को दोस्ती का नाम देता है। उन्नति मोहक के साथ इस रिश्ते के बावजूद अपने माँ–बाप का ख्याल रखती है। अपने परिवार के लिए खर्चा भेजती है। लेखिका युवाओं के स्वच्छंद भोगवाद को दिखाती है, किन्तु यह भी मानती है कि आज का युवा इस सबके बावजूद खुदगर्ज नहीं है। वह अपने परिवार के प्रति जिम्मेदार है। युवक–युवतियाँ साथ–साथ रहते हुए यूजटू नहीं हो जाते। उनका प्रेम और संवेदनाएँ जिन्दा रहती हैं। इसीलिए वे पलायन नहीं करते। उन्नति और मोहक अंतत: विवाह करते हैं।

महानगरीय परिवेश में एक ओर लिव–इन संबंधों का चलन बढ़ा है, तो दूसरी ओर विवाह न करने की प्रवृत्ति भी कभी–कभार दिखाई देती है। कभी जिम्मेदारियों की धींगामुश्ती तो कभी परिवेश की कड़वाहट ऐसा करने के लिए किसी युवा को विवश और प्रेरित करती है। हालाँकि लेखिका का अकेले जीवन में विश्वास नहीं है। इसलिए 'छँट गया कोहरा' की तूलिका अंतत: विवाह करने के लिए राजी हो जाती है। इन कहानियों की खासियत यह है कि जब लेखिका किसी समस्या को बेपर्दा करने के लिए ब्यौरों में जाती हैं तो बहुत बारीक सच्चाइयों से रूबरू होती है। इन कहानी की तूलिका जब अपनी सहेलियों और उनके पतियों के साथ होती है, तो सहेलियों के ताने और पतियों की नजरें उसे चुभती हैं। अंतत: अकेलेपन से ऊबकर तूलिका विवाह करने को उद्धत हो जाती है।

'नाजायज' और 'मुक्तिबंधन' स्त्री जीवन से जुड़ी हुई अलग किस्म की कहानियाँ हैं। नाजायज में लेखिका विवाह पूर्व शारीरिक संबंध और उससे उत्पन्न संतान के नाजायज होने के दंश को व्यक्त करती हैं। साथ ही मातृत्वहीन दम्पति की पीड़ा और 'नाजायज' के प्रति बदलते मनोभाव को भी दर्शाती है। 'मुक्तिबंधन' धीरजा की कहानी है, जो बहू बेटे और बच्चों की माया से छूटकर जीवन की साँझ बेला में मुक्त होकर आराम करना चाहती है। यह पुराने ढर्रे की एक लाचार कहानी है।

जैसा कि पहले जिक्र किया गया है कि संग्रह की तीन कहानियाँ गरीबी और बेकारी को अलग–अलग कोणों से प्रस्तुत करती हैं। 'भाग्य का लेखा' गाँव के शहर में पलायन करके आये दो हल्कू और रामासरे की कहानी है। इसपर प्रेमचंद की कहानी 'मुक्तिमार्ग' का प्रभाव दिखता है। मजदूर परस्पर मदद करते हैं। रामासरे की माँ बीमार है। इसलिए हल्कू अपनी जगह रामासरे को काम पर भेज देता है। ताकि माँ की दवा–दारू हो सके। जबकि हल्कू कई दिनों से भूखा है। कहानी में मजदूरों की संवेदनशीलता और भ्रातृत्व भाव बड़ी गहराई से प्रस्तुत किया गया है।

नव उदारवादी भूमंडलीय व्यवस्था में भारत की अमीर और गरीब वर्ग में विषमता तेजी से बढ़ी है। अमीरी और गरीबी की बढ़ती खाई से समाज में संवेदनहीनता भी पनपती है। युवाओं में कुण्ठा और निराशा बढ़ती है। समाज में अपराध बढ़ते हैं। इन हालातों का जायजा लेनेवाली कहानियाँ हैं– 'उम्मीद की छाँव' और 'घातक रोग'। पहली कहानी में अंग प्रत्यारोपण के अवैध कारोबार का पर्दाफाश किया गया है। अस्पतालों में डॉक्टरों और दलालों की मदद से गरीब मजदूरों के अंग धोखे से निकालकर बेच दिये जाते हैं। इस खेल में तमाम हताश–निराश बेरोजगार नवयुवक भी शामिल हो जाते हैं। जबकि 'घातक रोग' गरीब बंजारों की मजबूरियों और उसके पथभ्रष्ट हो जाने की कहानी है। शहरों में रहनेवाले बंजारे कभी कृत्रिम एक्सीडेंट के नाम पर, तो कभी अपनी लड़की की इज्जत नीलाम कर अपना पेट पालते हैं। वर्गीय असमानता और गरीबी,बेकारी उन्हें फरेबी और मक्कार बना देती है। बंजारे कानूनी कमजोरियों का फायदा उठाकर भोले भाले लोगों को फँसाते हैं। उनसे पैसे वसूलते हैं। समाज, कानून तथा मर्यादाएँ मूक बनकर यह दृश्य देखती रहती है। दरअसल हमें छोटे और

गरीब लोगों की चोरी तो दिखती है, लेकिन उन धन्नासेठों, नेताओं, अफसरों की चोरियाँ नहीं दिखतीं, जिसके कारण गरीब भूखों मरने के लिए अभिशप्त है।

युवा कहानी आंदोलन की एक मजबूत कड़ी के रूप में इस संग्रह को देखा जाना चाहिए। पूनम तिवारी अपनी कहानियों की मार्फत विश्वास जगाती है। आनेवाले दौर में हम उनसे अधिक विश्वनीय और रोचक कहानियों की उम्मीद कर सकते हैं। उनके संग्रह का शीर्षक बेहद, काव्यात्मक है। अलबत्ता इस नाम की कोई कहानी नहीं है। यह एक नई परंपरा की शुरुआत है। आमतौर पर किसी कहानी के शीर्षक पर संग्रह का नाम रखा जाता है। वास्तव में संग्रह की आत्मा को उन्होंने शीर्षक में दर्ज किया है। ऐसा लगता है कि कहानीकार को नये और काव्यात्मक नाम बेहद पसंद है। इसलिए गौरतलब है कि उनके पात्रों के नाम भी बहुत सुन्दर हैं, लीक से हटकर एकदम अलग किस्म के। कहानियों की भाषा अधिकांशतः सृजनात्मक है, लेकिन कहीं–कहीं भाषा की सपाटबयानी खटकती है। हालाँकि इससे कथारस में कहीं भी बाधा नहीं पहुँचती। कुल मिलाकर संग्रह पठनीय है।

कविता

बी.डी. बजाज
ए 83 गुजरांवाला टाउन, दिल्ली
9899263030

यह अद्‌भुत खेल प्रकृति का

यह अद्‌भुत खेल प्रकृति का
आज अँधेरा घटाटोप
न धूप न रोशनी
अन्धड़ बारिश ओले
कँपकँपाती सर्दी
आ गयी हो जैसे प्रलय हौले हौले
हुआ आगमन सुनहली उषा का
पूर्व की अरुण ज्योति
गुनगुनी धूप
अनायास ही मुस्करा उठी सृष्टि
मानो बता रही हो अन्तर
आज और कल का
न दुःख ही है शाश्वत
और न सुख ही
जीवन की आँख मिचौली
और रिमझिम प्रतिदिन का
आज के तन में छिपा
प्रकाश कल का
यह अद्‌भुत खेल प्रकृति का

कितना दिया प्रेम

(2)

कितना दिया प्रेम और अनगिनत उपहार मँहगे बुकें
मेरे जन्मदिवस और अन्य ऐसे अवसरों पर
चलता रहा संग तुम्हारे हर परेशानी में
यह सब जिस दिन घनघोर आवेग में
सुना रहे थे मुझे वे
अचम्भित हुआ उनके सुनाने और
जताने के अन्दाज पर
गहरी सोच में डूबा मैं अनिद्रा की साये में
खुद से करता हुआ सवाल
यह कैसा प्यार है, कागज के फूलों जैसा
दिल में मचता रहा बवाल
सोचता हूँ क्या है इस बदली नजर के असवाल
क्या प्रेम धूमिल होने पर ही बैठता है मनुष्य करने हिसाब
संबंधों का विकृत रूप और अहसानों की बौछार
शर्मिन्दगी की हद तक चुभने लगा ऐसा व्यवहार
चिंतन मुद्रा में अनायास ही निकला निष्कर्ष
जबतक रहता है प्रेम अंधा और बहरा
तभी तक रहता इसका वजूद
व्यक्ति का व्यक्ति से प्यार
रह जाती मात्र औपचारिकताएँ
और खंडित हो जाती प्रेम की धार।

कहानी

नाक़ाबंदी

नीलम कुलश्रेष्ठ
ए 2–503 आकाशनिधि अपार्टमेंट
रेडियो मिर्ची टावर रोड, अहमदाबाद
मो०–9925534694

ऊँचाई पर बिचरती अपने पंख फैलाये उड़ती उन्मुक्त चिड़िया जब थक जाती है, तो पेड़ों की फुनगियों पर आँगन के छज्जों पर, छत के मुंडेर पर सुस्ताने लगती है, कभी–कभी चिरैया को देखकर चिड़ा उसपर आँखें गढ़ा देता है, तो उत्तेजना में उसके सारे पर फूल उठते हैं। चिड़िया बेसुध होकर उन पंखों के झुरमुट में खोकर उनकी छुअन से सिहरती रहती है।

कभी–कभी बावरी हो जाती है। वह क्यों बावरी होती है, कोई समझ नहीं पाता। यों तो वह घरों के बरामदे या कमरों में लगे आईने के सामने अनेक बार उड़ती हुई गुजरती रहती है, लेकिन गजब तो तब होता है, जब चिड़े की आँखों में अपना अक्स देखने की आदी चिरैया आईने में अपने को भरपूर देखती है, जी भर के देखती है, नख से शिख तक देखती है। वह अपने को देख बौरा जाती है। वह उम्मीद से बावरी हो जाती है। इतना सौंदर्य, इतना आकर्षण। अबतक वह अपने को देख नहीं पायी? बस चिड़े के बच्चे और तिनके से घौंसला बनाना, एक–एक दाना बच्चों के लिए चुनकर लाना, इसमें ही अबतक का जीवन निकल गया। वह अपनी चोंच से अपने अक्स को एक बार चूमकर देखना चाहती है, क्या इतना सौंदर्य सच है?यह अपनी परछाईं की चोंच को स्पर्श क्या करती है, वह बावरी हो जाती है।

बेचारी बावरी चिरैया। अपने अक्स को देखने, उसे महसूस करने, उसे स्पर्श करने के लिए वह बार–बार उन्मत्त हो आईने के पास आती है, वह अपने नन्हें व्यक्तित्व पर बार–बार चोंच मारकर अपने सौंदर्य का उत्सव मनाती है। आस–पास के लोग अभ्यस्त नहीं होते कि कोई मादा अपनी छवि का उत्सव मनाये। वे उसे भगाते हैं, आईने को ढककर रखने लगते हैं, लकिन अब क्या हो सकता है?चिरैया ने अपनी मोहक छवि देख ली तो देख ली। वह उस छवि को देखने के लिए उतावली होने लगती है। जब भी मौका मिलता है तो चुपचाप तौलिया खिसकाकर अपनी छवि को देखने की कोशिश में लगी रहती है। जब भी वह खिसक जाता है, तो अपनी नन्हीं चोंच में आइने पर खट–खट करके जताती है, रोककर देख लो मुझे, बेचारी बावरी चिरैया।

यामिनी की नजर कई दिन से अपने घर में बावरी हुई इस चिरैया पर है। इसे जितना भी आईना से दूर भगाओ, वह वापस वहीं पहुँच जाती है। बस एक ही रास्ता है कि कमरे को बंद करके रखो, लेकिन वह भी कबतक?यामिनी को लगता है, उसे दौड़ाते भगाते उसकी बेचैन रूह तड़पती, छटपटाती चिरैया की रूह में समा गयी है। उसे अपने हर प्रश्न का हल प्रज्ञा दीदी में ही नजर आता है। वह उनके घर का नंबर डायल करती है, तो देर तक घंटी बजती रहती है, उत्तर नहीं मिलता।

ऑफिस में अपने दोस्त जतिन से पूछती है, 'ये बताओ, दुनिया में सबसे पहले विवाह की योजना किसने बनायी थी?' वह अपनी गर्दन पर दो उँगली रखकर कहता है, 'माँ कसम, मैंने तो नहीं बनायी थी।' आसपास के लोग हँस पड़े थे।

जतिन ने और चिढ़ाया था, 'मैंने कब से तुम्हें प्रपोज कर रखा था। हम एक ही ऑफिस में काम करते हैं। हमारी शादी हो गयी तो हम एक साथ खाना बनाकर ऑफिस आ सकते हैं। एक ह्वेकिल का खर्च बचेगा और तो और हम यहाँ एक दूसरे पर नजर भी रख सकते हैं।

आस–पास के लोग फिर हँस पड़े थे। उनमें से एक बोला, 'शादी तो एक लड्डू है...।'

जतिन तेजी से बोल उठा था, 'हाँ, हाँ, मुझे पता है, जो खाये सो पछताये, ना खाये सो पछताये। जब पछताना ही है तो खाकर ही क्यों न पछताया जाए?अब इससे क्या फर्क पड़ता है कि पहली शादी किसने की थी या ये आइडिया किसका था?'

उसकी नाटकीयता पर फिर सब खिलखिला उठे थे। यामिनी खीज गयी थी। जतिन के साथ कुछ भी गंभीर होकर सोचा नहीं जा सकता। ऐसे ही हर बात को मजाक में उड़ा देता है।

निकिता भी उसका मजाक उड़ाने लगी, 'उस दिन भी तू यह सवाल कर रही थी। तू तो ऐसे खोजबीन कर फिर रही है, जैसे किसी ने विवाह की योजना बनाकर कोई साजिश कर दी हो।

दरअसल मुझे ये बात एक चिड़िया को, 'वह अपने को सनकी समझे जाने के डर से एकदम चुप हो गयी, क्या चिड़िया?।'

'कुछ नहीं, बाथरूम की तरफ चल दी, नहीं तो सब उसकी बात का मजाक उड़ायेंगे। यदि वह कहे कि अधिकतर स्त्रियाँ कटे पंख की चिड़िया या उड़ान, घायल चिड़िया तायप कविताएँ क्यों लिखती हैं?

अब वह अपने उत्तर के लिए प्रज्ञा दीदी को ढूढ़ना शुरू करती है। वह उन्हें उनके विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग में जाकर पकड़ लेती है, 'ये बताइये कि दुनिया का सबसे पहला विवाह किसने आयोजित किया था?'

प्रज्ञा दीदी देर तक हँसती रही थी, महीनों बाद सूरत दिखाई है और पूछ क्या रही है?

ये प्रश्न मुझे बहुत दिनों से बेचैन किये हुए हैं। मैं आइने पर चोंच मारती चिड़िया को देखकर ये जानना चाहती हूँ कि प्रथम विवाह की योजना किसने बनायी थी?

क्या? चिड़िया और विवाह का क्या संबंध है?

विवाह ही ऐसा कारण है कि जिसमें बँधकर हर स्त्री अपना अक्स भूल जाती है। यदि अपना अक्स देख ले तो बावरी हो जाती है, कुछ कम, कुछ ज्यादा। दूसरे भी उसके इस तरह अपने अक्स को देखने से जलते हैं।

मैं ये तो नहीं बता सकती कि प्रथम विवाह की योजना किसने बनायी थी, लेकिन ये बता सकती हूँ कि प्रथम विवाह का उल्लेख अथर्ववेद में मिलता है जो कि शिवजी व पार्वती का हुआ था।

वह फिर खीज उठती है, हर बात का अंत धर्म पर ही क्यों होता है?

विवाह का प्रश्न क्या सिर्फ बावरी चिरैया को देखकर ही उसके मन में आया था, ओ। नहीं..नहीं, उससे पहले भी इस प्रश्न ने उसे जबसे बेचैन करना आरंभ किया था, जब उसने गलती से अहमदाबाद से लौटते समय ट्रेन के महिला डिब्बे में यात्रा की भूल कर दी थी। वह वहाँ इंस्पेक्शन करके लौट रही थी, तब वह भी चिरैया की तरह बावरी हो गयी थी। लेकिन

उसका बावरा होना कुछ दूसरी तरह का था। उसे बेहद हैरानी हो रही थी कि शरादो (अपभ्रंश–श्राद्धो) अशुभ दिनों के समाप्त होते ही कैसे हर दिन लाखो शादियाँ होती हैं। माँ–बाप पेट काट–काटकर लड़की की शादी के लिए रुपये इकट्ठे करते हैं। लॉटरी तो कुछ लड़कियों की किस्मत में निकलती है, बाकी तो शादी होते ही एक चक्रव्यूह में फँसकर हाय–हाय करने लगती हैं।

अहमदाबाद में सारे दिन की भागदौड़ से उसका पोर पोर दुख रहा था। वह स्टेशन जल्दी पहुँच गयी थी, इसलिए क्वीन के महिला डिब्बे में जगह देखकर जा बैठी थी। खिड़की के पास की जगह मिल गयी थी, वर्ना छः बजते ही क्वीन में साँस लेना भी मुश्किल हो जाता है। थोड़ी देर में एक गुजराती स्त्री अपनी ऐनक के साथ दो बच्चियाँ सँभालती आ बैठी उसकी बगल में। मध्य वयस की लंबी, कुछ सूखी और अपने मोबाईल पर बात करती आ बैठी। साथ की एक लंबी, गोरी जींस पहने चिकनी लड़की ने हाथ में लिया एयरबैग उसकी सीट के नीचे खिसका दिया, 'मॉम! घर पहुँचते ही खबर करिये।'

'ओ श्योर जी।'

थोड़ी देर में एक मध्य वयस की औरत बेटी सी लगती औरत के साथ यामिनी के पास आकर बैठ गयी। उसके बाद तो डिब्बे में भीड़ बढ़ती गयी। वह गोरी लड़की डिब्बे के पासवाली खिड़की के पास आकर माँ से बात करने लगी। तभी एक काला कलूटा लड़का भागता हुआ आया, उस गोरी लड़की से बोला, 'ओय पम्मी! तू यहाँ है?'

'ओय! तू आ गया,कबसे तेरा मैं वेट कर रही हूँ। मीट आई मॉम! कहकर उस लड़की ने अपनी माँ से उसका परिचय करवाया। उसने हाथ जोड़कर उनसे नमस्ते की, फिर दोनों मॉम व दुनिया से बेखबर आमने–सामने खड़े बातों में मशगूल हो गये। बीच–बीच में वह लड़की माँ को देख लेती थी। माँ के ऐंठे हुए चेहरे से लग रहा था कि उनका बस चले तो अपनी गोरी चिट्टी लड़की के सामने खड़े काले लड़के को अपनी आँखों से भस्म कर दे।

तभी दूसरी खिड़की के पास बैठीं गुजराती युवती का बेहद भला सा दिखाई देता पति अपने हाथों में दो चाय के गिलास लेकर आ गया। बहुत तहजीब से उसने खिड़की के पास खड़ी उस गोरी लड़की से कहा, 'प्लीज! हटेंगी।'

वह लड़की अपने दोस्त से बात करते हुए हट गयी। उस आदमी ने अपनी पत्नी को गिलास पकड़ाया और दूसरे से स्वयं चाय की चुस्कियाँ लेने लगा। उसकी बड़ी बेटी बोली, 'पप्पा! मने चाय जुइये।'

'बैग में दो ओरेंज फ्रूटी है, तुम दोनों पी लो।' 'सारू' कहकर बड़ी ने सीट के नीचे बैग को बाहर खिसकाकर फ्रूटी निकाल ली और एक बहिन को दे दी, दूसरी में स्त्रो डालकर मजे लेकर पीने लगी।

वह आदमी पत्नी से पूछने लगा, 'पेपर्स कैसे थे, कठिन या सरल?'

'सरस हता (अच्छे थे)' लेकिन सिलेक्शन का क्या ठिकाना?

'वो तो तू नौकरी की जिद्द करती है, मिल जाए तो ठीक है... वर्ना चालसे। तभी इंजन ने सीटी दी। वह व्यक्ति गिलास डिब्बे के नीचे फेंकता हुआ बोला, 'मैं बाजू वाले डिब्बे में हूँ। बराबर ख्याल राखजो।' गाड़ी ने रेंगना आरंभ कर दिया था। उस लड़की व उसके ब्वाय फ्रेंड ने विदा में 'बाय' कहते हुए हाथ हिलाया।

यामिनी पीछे की तरफ सिर टिकाकर सोने का प्रयास करने लगी थी। आजू–बाजू की स्त्रियाँ आपस में घुलमिल गयीं। गाड़ी की आवाज के साथ शब्द भी यामिनी के कानों में पड़ रहे थे। परीक्षा देकर आई और व मोबाईल वाली औरत तहे दिल से अपनी ससुराल वालों की बुराई में लगी हुई थी। वैसे भी स्त्रियों का सर्वाधिक प्रिय विषय है। वह मन ही मन खुश हो उठी कि अब तक शादी से बची हुई है। तो इस बुराई पुराण से भी दूर है। उसके पास बैठी वृद्ध ने अपने कंधे पर सिर रखकर बैठीं बेटी का सिर हिलाया और इशारा किया कि सामने वालों की बातें सुने।

यामिनी भी चौकन्नी होकर उनकी बात सुनने लगीं भोले चेहरे वाली गुजरातिन अपनी आवाज में तमाम जहर भरकर बोल रही थी। आप मेरे मिस्टर को सीधा समझती है?सभा सोसाइटी में ये बैठेंगे तो ऐसा भोला चेहरा बनाकर सिर नीचा करके जैसे कुछ जानते ही नहीं हैं, इनसे भलमानस दुनिया में कोई है ही नहीं। घर में देखो तो छोटी छोटी बातों के लिए चिल्लाने लगेंगे। मैंने बी.ए. किया है, मुझे देखकर कोई कहेगा? सारा दिन घर के काम में लगी रहती हूँ।

'ओय, मेरा हसबेंड भी ऐसा ही है। चेहरे से महात्मा नजर आता है। पूरी सोसाइटी में यही कहते हैं कि मल्होत्रा साहब बहुत जेंटल है। जब ये जेंटल अपनी बीवी पर चिल्लाते हैं, तब इन्हें देखो न।'

गुजरातिन बोली, 'कभी अचानक रसोई में आकर बेवजह चिल्लायेंगे कि ये पतीला यहाँ क्यों रखा है?अब बोलो पतीला प्लेटफार्म पर रखें या अपने सिर पर, इन्हें क्या?'

यही मल्होत्रा साहब करते हैं, घर में काम तो कुछ नहीं करना, बस बहाने निकालकर चिल्लाना है।

उनकी कटखनी आवाज सुनकर यामिनी उनसे पूछती है, 'मल्होत्रा साहब क्या करते हैं?'

'भरूच की कंपनी में डिप्टी डाइरेक्टर हैं। लुधियाना में मैं अच्छी भली कॉलेज में लेक्चरर थी। मुझे क्या पता था कि नौकरी छोड़कर सारी जिंदगी मल्होत्रा साहब और उनके बच्चों की आया बनकर रह जाऊँगी।'

'और मैं भी तो इनकी आयागिरी ही तो कर रही हूँ और खाली इनकी? आते–जाते मेहमानों की भी आयागिरी करनी पड़ती है। कोई मेहमान आएगा तो बड़े प्यार से कहेंगे कि तुम खाना बनाओ, हम इन्हें घुमा लाते हैं।

गुजरातिन बोली, 'तुम तो हसबेंड की बात कर रही हो। बड़े बच्चों को भी कुछ बोल नहीं सकते। देखा नहीं, मेरी बेटी कितनी सोनी है और एक काले लंगूर को पकड़ रखा है।'

यामिनी धीरे से बोली, 'इस लड़के में कुछ तो होगा, जो...।'

कुछ भी नहीं है, बहुत मामूली घर का लड़का है, इसके साथ एम.बी.ए. कर रहा है। इतने बड़े शहर में इसे ये ही मिला था।'

गुजरातिन तो जैसे कुछ सुन ही नहीं रही थी, वह कह रही है, 'मैं तो अपनी लड़कियों को ज्यूडो–कराटे सिखा रही हूँ।'

यामिनी आश्चर्य कर उठी थी, 'ये तो अभी छोटी है।'

एक पाँच वर्ष की है, एक आठ वर्ष की, इतनी छोटी भी नहीं है। मैं शाम को सोसाइटी में दोनों को साईकिल चलवाने ले जाती हूँ। मैदान के चक्कर लगवाती हूँ, जिससे ये मजबूत बने, मैं मजबूत नहीं थी तो मेरी इतनी हेल्थ खराब हो गयी। मेरी सास मेरी डिलीवरी के समय मुझे छूत का बहाना करके जमीन पर सुलाती थी व खाने को अच्छा नहीं देती थी और सुनाती थी कि कम खाना चाहिए। ननद डिलीवरी के लिए हमारे यहाँ आयी तो उसे पथारी (चारपाई) पर सुलाती थी, बढ़िया–बढ़िया खाना देती थी।

आपने अपने पति से शिकायत नहीं की?

उसे मेरे लिए टाइम कहाँ था। चालाक बनकर कह देता कि तुम जानो और माँ जाने। अगर कोई गलती हो जाए तो चिल्ला–चिल्लाकर आस्माँ उठा लेता है।

पंजाबिन हँस पड़ी, 'आप अपनी कहानी सुना रही हैं या मेरी?' पास में मराठी महिला बोलने लगी, 'या मेरी?' एम.पी की माँ बेटी से माँ बोलने लगी, 'या हम सबकी? घटनाएँ अलग हो लेकिन हम सबपर बीतती यही है।'

इसीलिए तो मैं अपनी बेटियों को मजबूत बना रही हूँ व सिखा रही हूँ कि पहले वे ससुराल में अपनी ड्यूटी पूरी करे, लेकिन फिर भी सास कुछ कहे तो एक दे... यदि मिस्टर कुछ कहे तो एक दे, वह सच ही नफरत से मारने का हाथ से इशारा कर रही थी।

यामिनी उसके गुस्से पर मुग्ध हो गयी थी.. क्या खालिस फेमिनिज्म है यानी ओरिजनल नारीवाद यानी स्त्री विमर्श यानी खालिस स्वदेशी, जो नितांत निजी अनुभवों से उदय हुआ है। इसने कहाँ सिमोन द बुवा या वर्जीनिया वुल्प की पुस्तकें तो क्या देशी लेखिकाओं की पुस्तकें भी नहीं पड़ी होंगी। वह कहे बिना नहीं रह पाती, आपके पति तो बहुत सीधे लगते हैं।

लगता है आपकी शादी नहीं हुई, आपको सीधे शकल वाले पति से पाला नहीं पड़ा।

हा..हा..हा, सब हँस पड़ीं थी। वह उजबक सी सबकी शकल देखने लगी थी।

नडियाड आते ही मल्होत्रा अपने मोबाईल पर अपने पति से बात करने लगी थी, 'जी! वर्षा बोल रही हूँ। जी, अपनी ट्रेन में सलामती की खबर वह दूसरी बार उन्हें दे रही थी। उनकी डोर तो उधर बँधी हुई है, लेकिन फिर भी उसने घोषणा की थी, जो जितने ऊँची पोस्ट वाले होते हैं, सब आउट ऑफ ट्रैक होते हैं। वे औरतों के पीछे भागते हैं, औरतें नौकरी व पैसे के लिए उनके पीछे भागती हैं।

वृद्धा की हँसी निकल गयी थी। वह अपनी बेटी की तरफ इशारा करके बोली थी, 'इसका आदमी कौन सा कलेक्टर है, फिर भी इसकी शादी के बाईस साल बाद इन दोनों के झगड़े सुलझाने आना पड़ा है।'

बाईस वर्ष बाद? आस पास की सभी स्त्रियों के मुख से निकल गया था। सबके कान एक और स्त्री की कथा व्यथा सुनने को अलर्ट के मुद्रा में आ गये थे। तब उसे पता नहीं था कि पुरुष सत्ता में सभी स्त्रियाँ एक दूसरे को देखकर अपनी आपबीती सुनाकर या सुनकर अपनी हालत पर सब्र करती रहती है। अरे, उसकी हालत... अरे..अरे.. उसकी हालत अरे.. अरे... अरे उसकी भी हालत अपने जैसी ही है। बाद में युगों से उन्हें रटाया डायलॉग मार दिल पर पत्थर रख लेती हैं। आदमी तो सब ऐसे ही होते हैं।

हाँ, इसका आदमी शादी से पहले किसी गुजरातिन से इश्क फर्मा रहे थे। हमारे घर का पैसा देखा तो उसे धोखा देकर इससे शादी कर ली। बीस–बाईस वर्ष तक शरीफ बने रहे; क्योंकि इकलौती लड़की थी। दामादजी के सब बहिन भाइयों की शादी हो गयी तो लगे इसे तंग करने क्योंकि इसके पापा भी रिटायर हो गये थे। हमसे पैसे खींचने का अब कोई रास्ता नहीं था। बात–बात पर इसे यही कहते, तेरी पिटाई कर दूँगा। तब इसकी समझ में ये बात कि वह उस औरत से गुपचुप संबंध बनाये हुए थे।

ओ... तो अब?

तभी गाड़ी आनंद पहुँच गयी थी। मल्होत्रा ने अपने मोबाईल पर फिर पति का नंबर डायल किया। 'हुण आनंद पहुँच गयी जी, कुछ तकलीफ नहीं है जी।'

यामिनी उसकी कमेंट्री पर मुस्करा उठी थी। आउट ऑफ ट्रैक पति को किस तरह यात्रा का ब्योरा दिया जा रहा है। फिर वह मौका मिलते ही पति की बुराई आरंभ कर देगी।

प्लेटफार्म पर अमूल डेयरी की सेल्स ब्वाय दूध की बोतलें, आइसक्रीम लेकर घूम रहे थे। गुजरातिन की बड़ी बेटी मचली, 'मम्मी! आइसक्रीम दिलवा दो।

वह आइसक्रीम वाले को रोककर पूछती है, 'ओरेंज कैंडी कैसे दी है।'

'ये नहीं चोको बार चाहिए।' इस अंकल के पास चोको बार नहीं है।'

आइसक्रीमवाले ने भी उसका आशय समझकर कहा था, 'आज चोको बार खत्म हो गयी।' दोनों बच्चियाँ ओरेंज कैंडी पर सब्र कर लेती है।

मल्होत्रा व उसने पिस्ता मिल्क लिया था व सबसे पूछा था, 'आपलोगों को क्या लेना है?' सबने 'न' में सिर हिला दिया था।

यामिनी बेचैन है। गाड़ी चले तो वृद्ध की कहानी आगे बढ़कर क्लाइमेक्स पर पहुँचे। उसने पिस्ता मिल्क खत्म करके उसकी बेटी से व्यग्रता से पूछा था, 'फिर तो आपने अपने पति को छोड़ दिया होगा?'

वह आहें भरती बोली थी। बाईस वर्ष की शादी का अर्थ समझती हैं? बच्चों के कैरियर के खतरनाक मोड़ होते हैं। यदि परिवार का संतुलन बिगड़े तो वे तबाह हो जाए, फिर हमारे यहाँ अधिकतर शादियाँ परिवार की प्रतिष्ठा से होती है, तो मैं कैसे उनसे अलग हो सकती थी?'

मल्होत्रा बीच में बोल उठी, 'ये सभी शादियाँ इसीलिए घसीटती है; क्योंकि बीस–बाईस तक औरतों को अपने बच्चों में सिर खपाते पता ही नहीं चलता कि वह अपने पति के कितने छल का शिकार हो रही है। जब समझ में आता है, तो उससे अलग होने का मौका निकल चुका होता है। मैं तो दावे के साथ कहती हूँ कि लगभग हर शादी बच्चों की शादी आते–आते अंदर से टूट चुकी होती है।'

वृद्धा ने कहा था, 'फिर भी तुमलोग हमारी माओ से, हमसे अच्छे हो, हमारी मायें तो पचास बरस तक बच्चे जनती रहती थी। मैं ही जानती हूँ कि इसके पापा के साथ मैंने कैसे दिन काटे हैं। वो इतने कड़क है कि उनके मुँह से निकली बात पत्थर की लकीर होती है। तुम क्या जानो मेरे दिल में कैसे–कैसे घाव हैं।

उसने उसी बेटी से पूछा था, 'तो आप अभी भी उसी धोखेबाज के साथ रह रही हैं?'

'और चारा ही क्या है? एक दिन मैं उस औरत को धमका आयी कि मैं पुलिस में रिपोर्ट कर दूँगी। पति को जब पुलिस व वकील की धमकी दी तो माँ को भोले बनकर तार दे दिया कि चली आइए मेरा घर टूट रहा है।

'आपके पिताजी...।'

'वह गुजर गये हैं, होते भी तो इस उम्र में क्या कर लेते?'

यामिनी ने वृद्धा से पूछा था, 'तो आप तार पाकर घबरा गई होंगी?'

'ना रे। ये बाल कोई धूप में सफेद नहीं हुए हैं। शादी तो ऐसी नाल है बच्चों की खातिर या समाज के डर से बिरले ही तोड़ पाते हैं। हर पति–पत्नी में एक समय आता है कि वो जानी दुश्मन बनकर लड़ते हैं। वो तूफान गुजर जाता है और वे जल अलकर साथ रहते हैं। मेर भाई–भाभी में भी ऐसे ही लड़ाई हुई थी। भाभी चीख रही थी कि मैं इस आदमी की सूरत नहीं देख सकती थी। भाई चीख रहा था कि इस औरत के साथ मैं नहीं रह सकता।'

यामिनी ने धड़कते हुए दिल से पूछा था, 'अब वे दोनों कहाँ हैं?'

किसी स्त्री–पुरुष में कुछ समय के लिए दुश्मनों जैसा रिश्ता हो जाए फिर भी ये साथ नहीं छूटता। वे भी साथ ही रह रहे हैं।

ऊपर सामान रखने की बर्थ पर दो युवतियाँ अपने डेड दो वर्ष के बच्चों को

गोद में लेकर पैर लटकाये बैठी थीं। उनमें से एक ने नीचे झाँककर कहा था, 'मुझे दुश्मन के नाम पर एक बात याद आ गयी।'

'क्या?सबकी उत्सुकता थी।

इस बारिश में तीन–चार बार ऐसा हुआ कि मैं जब भी घर से बाहर निकलूँ, तभी बारिश आ जाए। मेरे पति ने मेरा मजाक उड़ाया कि बारिश तो तेरी दुश्मन है। तेरी कैसे कटेगी?तो मैंने उससे कहा कि एक दुश्मन के साथ मैं रह रही हूँ। मुझे दुश्मन के साथ रहने की आदत है।

'हा...हा...हा...हा।'

मल्होत्रा अपने दुश्मन को मोबाईल से रिपोर्ट दे रही है। हाँ जी! मैं पंद्रह मिनट में बड़ौदा पहुँच जाऊँगी। सबकी हँसी रुकती है। यामिनी ऊपरवाली बर्थ पर बैठी उन युवतियों को देखती हैं। लगता है आप सबकी बातें सुन रही हैं, लेकिन आप तो यंग हैं। जमाना इतना बदल गया है, लेकिन आपलोगों के हाल भी ससुराल में यही है?

छोटे शिशुओं को गोद में उठाये उन दोनों मूक गाय–सी एक साथ सिर हिला दिया था। इन्हें देखकर उसके दिमाग में लेखिका सरोज वशिष्ठ की कहानी की ये पंक्तियाँ कौंध गयी थी, 'हर औरत एक उम्र के बाद पति की बेरूखी कड़वाहट जानती है, लेकिन उसे दिल पर नहीं लगाना चाहिए। हर औरत घर बचाने के लिए सब कुछ सहती है.... हर माँ एक कैदी है। यामिनी सोचकर घबरा जाती है, तभी सब चिरैया आईना देखते ही बौखला जाती हैं कि कहीं घर ना टूट जाए...। चिरैया आईने व घर को सँभाले रखे तो उसके आत्मविश्वास से बौखला जाते हैं; क्योंकि उन्हें मूक गायों की आदत पड़ चुकी है।

यामिनी को फिर जतिन याद आ गया था। शादी का प्रस्ताव देता। यामिनी ने उससे शादी कर ली तो वह सिर हिलाती गाय तो बन नहीं सकती। इतनी सीधी तो वह नहीं है तो कितने दिन टिकेगी ये शादी?जतिन उसे कितना विश्वास दिलाता रहता है कि उसे अपनी तरह ही जीने देगा, फिर वो क्यों नहीं मान रही। उसकी नजरें फिर ऊपर उठीं थी। उसने एक बच्चा उस युवती की गोद में से लिया था और उसे अपनी बाहों के घेरे में लेकर भींच–भींचकर प्यार करने लगी थी। उसके नर्म गाल पर अपना गाल सटा दिया था। बच्चा भी किलकने लगा था। गोद में बैठे बच्चे का सुख उसे परिपूर्ण कर रहा है, लेकिन इस सुख के लिए जतिन का साथ चाहिए। क्या जतिन को शादी के लिए हाँ कर दे?तो कर दे इस नाकाबंदी के लिए हाँ?आश्चर्य तो ये है, पुरुष भी शादी को नाकाबंदी ही समझता है, तो किसकी नाकाबंदी अधिक है स्त्री के व्यक्तित्व की या पुरुष की अंतहीन कामनाओं की उड़ानों की? बच्चे मुलायम स्पर्श से बँधी वह दुनिया की उलझी बातों को नहीं सोचना चाहती। उसे सच ही जतिन का साथ चाहिए। गुजरातिन मल्होत्रा से पूछती है, 'आपके बच्चों की शादी हो गयी?'

अहो जी। खूब धूमधाम से हुई थी। मल्होत्रा साहब ने लाखों रुपये मेरे हाथ में रख दिये थे, लेकिन छह महीने से रिटायर होकर घर में पड़े हैं। मैं तो भजनमंडली या किट्टी पार्टी में चली जाती हूँ तो मुँह लटकाये पड़े रहते हैं घर में।

बड़ौदा आ गया था। यामिनी ने कंधे पर पर्स टँगा और ट्रेने से उतर गयी थी। उसे आज अच्छा अनुभव मिला है। वह जतिन को शादी से पहले जता देगी, 'मुझे घर में डाल देनेवाली चीज मत समझना, नहीं तो बुढ़ापे में तुम भी घर में डाली हुई चीज बन जाओगे। वह प्लेटफार्म पर उत्साहित सी चलते हुए सोचने लगी कि वह भी तो जतिन की नाकाबंदी करने जा रही है कि ये करो, वो नहीं। डिब्बे की अधिकतर स्त्रियों के चेहरे सपाट हैं। भावनाहीन जैसे वो सोच रही हो, जहाँ से वो चली थी, वहीं पहुँच गयी है। अलबत्ता वो स्त्रियाँ तेजी से चल रही हैं, जो कड़ी मेहनत के बाद रोज बड़ौदा व अहमदाबाद के बीच अप–डाउन करती हैं।

दस वर्ष बाद नौकरी में टूर पर उसे नहीं जाना होता है। अहमदाबाद में वह एक महाराष्ट्रीयन कलीग की शादी में से लौट रही है। शाम छह बजे क्वीन में बैठते ही वह मोबाईल पर जतिन को फोन करती है, 'ओ जतिन! थैंक यू। आज तुमने दोपहर बाद छुट्टी ले ली। जॉय व जौलिशा को एक गिलास दूध पिला देना। पूछ लेना कि उन्हें कॉर्न फ्लैक्स लेने हैं या बोर्नविटा.....। ओ, तुमने सब्जी बना ली? चपाती मैं आकर बना लूँगी।

वह अब इत्मीनान से महिला डिब्बे में नजर डालती है। उसे दस वर्ष पहली वाली महिला डिब्बे की यात्रा याद आ जाती। जब तो सिर्फ मल्होत्रा के हाथ में मोबाईल था। आज तो हर युवा लड़की अपने मोबाईल में एस.एम.एस. चेक करते मुस्करा रही है या अपना लेपटॉप खोलकर गंभीरता से ऑफिस का काम कर रही है। बड़ी महिलायें अपने पर्स में से मोबाईल निकालकर कभी बात कर लेती हैं। कुछ मूक गायें भी नजर आ रही हैं, जिनके कंधे झुके हुए हैं, लेकिन इतना भर जरूर है कि वॉश रूम आती–जाती लड़की बहुत आत्मविश्वास से अपने कंधे चौड़े किये चल रही है।

प्राप्त पुस्तकें

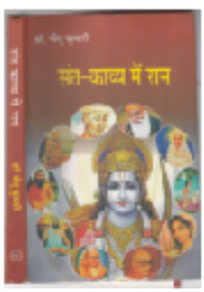

लघुकथा

नासमझ

संजय वर्मा 'दृष्टि'
125 शहीद भगत सिंह मार्ग, मानवर (धार)
मो०–9853070756

बुजुर्गों का आशीर्वाद, सलाह सदैव काम आती है। ये शायद उनके अनुभव का ऐसा अनमोल खजाना होता है, जिनको पीढ़ी–दर–पीढ़ी एक दूसरे को देते हैं। कुछ लोग उनकी नेक सलाह को ठीक तरीके से समझ नहीं पाते और उनका ध्यान कहीं और रहता है। चित्त को स्थिर रखना अपनी सोच को सही लक्ष्य दिखाता है। यही बातें स्कूल में मास्टरजी भी बताते थे। अक्सर कई बार ऐसा हो जाता है कि सामनेवाला क्या सोच रहा है या फिर हम उसी अंदाज में उसे देख रहे हैं, मगर उसके बारे में सोच नहीं रहे हैं यानी ध्यान कहीं और है। ऐसे में सामनेवाला कोई नई बात सोच लेता है। बात को पहले समझे बगैर दूसरों को कह देना एक बाबूजी ने साहब के बंगले पर जाकर बाहर खड़े नौकर से पूछा साहब कहाँ हैं? उसने कहा–'गये यानी उसका मतलब था कि साहब मीटिंग में बाहर गये।' बाबूजी ने ऑफिस में कह दिया कि साहब गये। इस तरह उड़ती–उड़ती खबर ने जोर पकड़ लिया। कोई माला, सूखी तुलसी, टॉवेल आदि लेकर साहब के घर के सामने पेड़ की छाया में बैठ गये। घर पर रोने की आवाज भी नहीं आ रही थी। सबने खिड़की में से झाँककर देखा। कोई लेटा हुआ है, उसपर सफेद चादर ढकी हुई है। सब गये और साथ लाये फूलों को उनके ऊपर डाल दिया। वजन के कारण सोये हुए आदमी की आँखें खुल गयीं। मालूम हुआ कि वो तो साहब के भाई थे, जो उनसे मिलने बाहर गाँव से रात को आये थे। सब लोग असमझ में थे कि बाबूजी को नौकर ने बात समझे बगैर सही तरीके से नहीं की। इसमें बाबूजी का कसूर नहीं था।

कुछ दिनों बाद बाबूजी रिटायर होकर अपने गाँव चले गये। गाँव में उन्हें वहाँ के लोग नान्या अंकल कहकर पुकारते थे। गाँव में रिवाज होता है कि मेहमान यदि किसी के भी हो, अपने लगते हैं। गाँव में उन्हें अपने घर में बुलाते हैं, फिर मेजवान को भी उनके परिचय हेतु बुलवा लेते हैं। एक वाक्य याद आता है कि गर्मी की छुट्टियों में मेहमान आये, बुरा न लगे इसलिए सामनेवाले अंकल जो कि बाहर खड़े थे, जिन्होंने ही हमारे घर का पता मेहमानों के पूछने पर बताया था, को भी गर्मी के मौसम में ठंडा पिलाने हेतु पप्पू को दौड़ा दिया कहा कि 'जा जल्दी से नान्या अंकल को बुला ला।' मेहमान कहाँ से आये कि रोचकता समझने एवं आमंत्रण कि खबर पाकर वो इतना सम्मानित हुए, जितना कि कवि या शायर कविता/गजल पर दाद बतौर तालियाँ और वाह–वाह के सम्मान से जैसे नवाजा गया हो।

बात कर रहे थे ठंडा पीने की, जैसे ही नान्या अंकल मेहमानों के सामने भाभीजी ने नींबू का शरबत दिया, शरबत का गिलास होठों से लगाया तो नान्या अंकल की आँख दब गयी। कसूर आँख का नहीं था, सोच शायद मँहगाई के मारे शक्कर के भाव बढ़ गये हो, इसलिए शक्कर कम डाली हो। दूसरा घूँट भरा तो फिर आँख दब गयी। तब सभी ने देखा और मन ही मन कहा कि शर्मो हया की भी हद होती है!

नान्या अंकल ने कहा, भाई! शरबत बहुत ही खट्टा है। पीने से मेरे दाँतों को बहुत तकलीफ होती है। खटाई ज्यादा होने पर तो हर किसी की आँख दब ही जाती है ना! मेरी नजर तो पहले ही कमजोर है। जरा इमली को ही लीजिए, इमली का नाम सुनने पर या चूसने पर सामनेवाले के मुँह में पानी भी आ जाता है और जम्हाई लोगे तो सामनेवाला भी मुँह फाड़ने लग जाता है। कई लोग महत्त्वपूर्ण मीटिंगों में आपको सोते या जम्हाई लेते मिल ही जाएँगे। ऐसा शरीर में क्यों होता है, ये मैं नहीं जानता, जो आप सोच रहे हो और ये भी नहीं जानता कि मेरा कसूर क्या है?

कई सालों बाद वही मेहमान फिर गाँव में आये उन्होंने नान्या अंकल को देखा, जो कि ज्यादा बूढ़े हो गये थे, लेकिन अपने विचारों पर थे अडिग। उनकी नजरें भी कमजोर हो गयीं, किन्तु सामनेवाले मेहमानों ने उन्हें पहचान ही लिया। वे एक दूसरे के कानों में खुसर–पुसर कर कहने लगे, यही तो है अंकल। उन्होंने सोचा कि शायद उस समय हमसे ही कोई समझने में भूल हो गयी हो, क्षमा माँगने का और मन की बात कहने का यही मौका है। सभी ने नमस्कार कर पूछा कि अंकल हमें पहचाना?नान्या अंकल लकड़ी के सहारे चलकर बूढ़ी आँखों से देखकर नजदीक आकर कहा–बेटा मुझे दूर से कोई दिखाई नहीं देता। वे बहुत पास आकर देखने लगे। इतने में फिर से आँख दब गई, अब कसूर खटाई का नहीं था, बल्कि हवा के झोंकों का था, जो धूल भरी आँधी के साथ तिनके को धूल के कणों के साथ उड़कर लाया था, जो उड़कर नान्या अंकल की आँखों में सीधे जा घुसे थे। मौसम के मिजाज जो अक्सर गर्मियों के दिनों में धूलभरी आँधी चलती है, को मेहमान समझ नहीं पाये। नान्या अंकल भी सामनेवाले को समझा नहीं पाये और ना ही मेहमानों ने सही बात को ठीक तरीके से समझने की कोशिश की। नान्या अंकल मन ही मन सोच रहे थे कि आखिर मेरा क्या कसूर है?जो मैं कह रहा हूँ, ये उसे समझ नहीं पा रहे हैं। उधर रेडियो का मौसम की भविष्यवाणी हो रही थी कि मौसम आज खराब रहेगा, मगर ये समझ नहीं रहे थे और रेडियो गाने भी बजा रहा था कि 'इन आँखों की मस्ती के दीवाने हजारों हैं... मगर फिर भी नहीं समझ पा रहे थे कि क्या रेडियो भी इनपर कटाक्ष कर सकता है। अब नान्या अंकल चुप थे और मेहमान असमझ में थे। वे अब सोचने लगे कि अब कसूर किसका है?नान्या अंकल को भी अचरज हुआ और बुरा भी लगा। चलते समय कुर्सी की ठोकर लगी और गिरने लगे, तभी मेहमानों ने उन्हें सँभाल लिया व सभी ने कहा, 'अंकल कहाँ जा रहे हैं?' उन्होंने कहा कि बच्चो! मैं अपना चश्मा लेने जा रहा हूँ। और मन सोचने लगे कि मेरा क्या कसूर है? सौ लोग वाकई नासमझ है, जो बुजुर्गों की बातों को ठीक तरीके से नहीं समझते।

समीक्षा

आदिवासी और धूणी तपे तीर

–डॉ. शिवप्रसाद शुक्ल
वल्लभ विद्यानगर, आणंद
गुजरात मो. 9409214619

वैश्विक स्तर पर सुख–सुविधाओं एवं उत्तर आधुनिकता से कोसों दूर अनपढ़ आदिवासी ही हैं। गीता में भले ही कहा गया है कि 'चतुर्वर्ण्यमयासृष्टं गुणकर्म विभागशः' परन्तु आज वर्ण–जाति के रूप में आकार ग्रहण कर लिया है। वेद से लेकर अबतक के साहित्य का विहंगावलोकन किया जाए तो प्रकृति एवं पुरुष के सामंजस्य की बात बार–बार आती है। लेकिन आधुनिकता, उत्तर आधुनिकता एवं निगमिक पूँजीवाद के विकासात्मक स्तर मानवता एवं पर्यावरण के लिए खतरा स्वरूप सिद्ध हुए हैं। नेहरू के लिए बाँध देवालय थे, लेकिन बाँध बनने से सबसे ज्यादा विस्थापित आदिवासी ही हुए हैं। भाखड़ा नांगल बाँध, नर्मदा, सतलज, टेहरी गढ़वाल बाँध, महानदी एवं अन्य नदियों पर जहाँ–जहाँ बाँध बने हैं, वहाँ–वहाँ आदिवासियों को विस्थापित होना पड़ा है। उनके विस्थापन को आजतक सरकारों ने सुलझाया नहीं है। यही कारण है कि उनकी भाषा, संस्कृति एवं सभ्यता पर भी साफ खतरे नजर आ रहे हैं। आज सभ्यता एवं संस्कृति के नाम पर शोषण का तांडव चल रहा है। इसे हम गबन, गोदान, महाभोज, आपका बंटी, रागदरबारी, कितने पाकिस्तान, मैं बोरिशाइल्ला, ग्लोबल ग्राम का देवता, मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ, कथा सतीसर एवं अन्य कृतियों में पढ़ सकते हैं। भले ही आदिवासियों को आरक्षण मिला हो, परन्तु आज भी वे शिक्षा एवं तमाम सुख–सुविधाओं से वंचित है। जो आदिवासी पढ़–लिखकर सरकारी नौकरियों में आये हैं, वे भी वर्ग परिवर्तन गोबर या अन्य राजनेताओं की तरह कर रहे हैं। यों देखा जाए तो आदिवासी ही पर्यावरण को सुरक्षित रख रहे हैं। जल, जंगल और जमीन के रक्षक आदिवासी ही हैं। डॉ. रमणिका गुप्ता के अनुसार, 'आदिवासी वन संस्कृति से संबंधित साहित्य है। आदिवासी साहित्य, उन वन–जंगलों में रहनेवाले वंचितों का साहित्य है, जिनके प्रश्नों का अतीत में कभी उत्तर ही नहीं दिया गया। यह ऐसे दुर्लक्षितों का साहित्य है, जिनके आक्रोश पर मुख्यधारा की समाज व्यवस्था ने कभी कान ही नहीं धरे। यह गिरि–कंदराओं में रहनेवाले अन्यायग्रस्तों का क्रान्ति साहित्य है। सदियों से जारी क्रूर और कठोर न्याय व्यवस्था ने, जिनकी सैकड़ों साहित्य/वन वासियों का क्षत जीवन, जिस संस्कृति की गोद में छुपा रहा, उसी संस्कृति के प्राचीन इतिहास की खोज है यह साहित्य। आदिवासी साहित्य इस भूमि से प्रसूत आदिम वेदना तथा अनुभव का शब्दरूप है।' (आदिवासी साहित्य यात्रा,पृ. 24) आदिवासी साहित्य की व्यापकता समग्र मानवता के लिए काफी उपयोगी है। हम यहाँ हरिराम मीणा के उपन्यास 'धूणी तपे तीर' के माध्यम से आदिवासियों की भूमिका खोजने का प्रयास करेंगे। स्वाधीनता आंदोलन में भी आदिवासियों की अपनी अल्प पहचान रही। 'धूणी तपे तीर' उपन्यास की घटना जलियावाला कांड (1919) से भी काफी भयंकर थीं, परन्तु उसे प्रकाश में लाने का कार्य लेखक हरिराम मीणा ने इतिहासकारों को कटघरे में खड़ा करते हुए 'धूणी तपे तीर' उपन्यास में लिखा। उन्होंने 'हाँ चाँद मेरा है' (1999), 'रोया नहीं था यक्ष' (2003), 'सुबह के इंतजार में' (2002), काव्य संग्रह एवं 'सायबर सिटी से नंगे आदिवासियों तक' (2008) यात्रा वृत्तांत लिखे हैं। एक तरफ आदिवासियों की व्यथा कथा तथा दूसरी तरफ स्मार्ट सिटी निर्माण, तीसरी तरफ जल, जंगल, जमीन पर अतिक्रमण विकास की गति निर्धारित करे गोया मानवता का विनाश। 'धूणी तपे तीर' की कथावस्तु 'मानगढ़' आदिवासी आंदोलन में शहीद 1500 शहीदों की शौर्यगाथा तो है, परन्तु इससे इतिहास लेखक कलम घिस्सुओं की पोल भी खुलती है। यह उपन्यास 376 पृष्ठों में दक्षिणी राजस्थान की मेवाड़ रियासत और बागड़ क्षेत्र की बाँसवाड़ा, डूँगरपुर, कुशलगढ़, प्रतापगढ़ के साथ गुजरात की सूंठ, ईडर रियासतों से लगे पूर्वी मध्य प्रांत के झाबुआ, रतलाम, सैलाना तक फैला है। गौण कथाएँ ही मेवाड़, भील, कोर को रायफल प्रदान कर मिलिटरी का दर्जा देना, महारानी विक्टोरिया हीरक जयंती महोत्सव, मेरठ छावनी में सैन्य विद्रोह की कथा, सेंगजी साथ, लाखा बनजारा, सुरा बावड़ी, टंड्या भील, सृष्टि की उत्पत्ति कथा, भीलों की उत्पत्ति कथा, हीड़ा की कथा एवं दिल्ली दरबार का आयोजन आदि खंडचित्रों में विन्यस्त है विडम्बना और बौद्धिक काल गर्ल के चरित्र के साथ। लेखक ने फ्लैशबैक, पत्रात्मक एवं फेंटेसी का अद्‌भुत के धैर्य का उपन्यास के मध्य भाग में ध्यान कम रखा है, जबकि उपन्यास के उत्तरार्द्ध की कथाओं में गतिशीलता एवं रोचकता लेखकीय संरचना की सूझ–बूझ ही कही जाएगी।

इस उपन्यास के शीर्षक की सार्थकता पर पिन्टू कुमार मीणा का वक्तव्य ध्यातव्य है कि 'धूणी में घी का होम और अन्न का दान और कम से कम एक बुरीलत का परित्याग बहुत बड़े पुण्य का काम माना जाता था। विभिन्न धूणी स्थल सम्पूण सभा के स्थानीय कार्यक्षेत्र भी थे। इन विभिन्न धूणी स्थलों में विभिन्न प्रकार के तीरों को तपाया जा रहा था। इन तीरों में धार्मिक बुराई के त्याग की तीर, रूढ़ियों एवं अंध विश्वासों की तीर, शोषण एवं अत्याचार के विरोध रूपी तीर, सम्प सभा के उद्देश्यों एवं विभिन्न सामाजिक बुराइयों को दूर करने आदि की तीर तपाई जा रही थी। बाँगड़ अंचल के आदिवासी अपने आत्मविश्वास रूपी तीरों को भी धूणी में तपाकर पैने एवं सख्त कर रहे थे, जिससे एक जुट होकर वे राज का विरोध कर सकें।' (मानगढ़ आंदोलन केन्द्रित हिंदी साहित्य, पृ. 48–49) गोविन्द गुरु का जन्म 1858 में डूंगरपुर रियासत के बाँसिया नामक गाँव में एक साधारण बंजारा परिवार में हुआ था। आदिवासियों के बीच पले–बढ़े गोविन्द गुरु बचपन में ही गाँव के मंदिर के पुजारी राजगिरि गोसाईं से अनौपचारिक शिक्षा प्राप्त की। इधर अंग्रेजों एवं क्षत्रियों का भी धौंस बढ़ता जा रहा था। वे अपने पिता के साथ घूम–घूमकर बाँगड़, मालवा, गुजरात के भील एवं मीणा आदिवासियों की हर स्थितियों से रूबरू हुए, उनमें जागृति पैदा करने की भी ठान ली। ईश्वर सिंह राठवा ने उपन्यास के प्रारंभ में गोविन्द गुरु की मनसा यों व्यक्त की है–'कुरिया ने चकमक में से चिनगारी पैदा की। चिनगारी आग बनी, इसका मतलब पत्थरों में आग है। जो पत्थरों में आग है, तो पहाड़ में आग है और जो पहाड़ में आग है, तो जिन पहाड़ों में आदिवासी रहते हैं, उन आदिवासियों के भीतर भी आग होनी चाहिए, उस आग को मैं जलाना चाहता हूँ। अतः दस–बारह साल की उम्र में ही गोविन्दा पाँच–सात किशोरों के साथ कहीं भी बैठकर लिखाई–पढ़ाई के महत्त्व पर संवाद करना शुरू कर देता है।' (पूर्वपरा पृ. ख) यों देखा जाय तो डॉ.

अयोध्या सिंह ने 'भारत का मुक्ति संग्राम' में आदिवासियों एवं दलितों के विद्रोहों को बखूबी उभारा है। इधर सबाल्टर्न इतिहास लेखन के तर्ज पर सबाल्टर्न साहित्य में आदिवासी, दलित एवं नारी विमर्श साहित्य की दस्तक ने मानवीय पहलुओं को काफी लोकतांत्रिक बना रहा है। भीलों के गाँव के मुखिया गोविन्द गुरु को डाँटते हैं, फिर भी वे आदिवासियों के बच्चों को अच्छी शिक्षा दे रहे हैं। इससे गाँव के लोग एवं मुखिया काफी प्रभावित होते हैं। हरिराम मीणा ने लिखा है कि 'तू तो पुजारी बाबा के लक्खण सीखता जा रहा है रे। पर हमको घर के काम और बेगार के कारण फुरसत ही नहीं मिलती। ये ज्ञान की बातें कब सुनें और फिर उसका करेंगे भी क्या?हमें तो जैसे हमारे पुरखे जिये वैसे ही उम्र काटनी है। .... मैं रोज के विरोध की बात नहीं करता, लेकिन बुराइयों के खिलाफ लोगों में जागरती तो पैदा की जा सकती है। .... मुखिया गोविन्दा की बातों से प्रभावित हुआ। उसने मन ही मन महसूस किया कि गोविन्दा होनहार बालक है।' (धूणी तपे तीर, 25–26) यानी गोविन्द गुरु आदिवासियों को अंधविश्वासों से दूर करके नवजागरण के मारफत अंग्रेजी प्रशासन को परास्त करना चाहते हैं। इसी प्रकार आदिवासियों में फैली नशावृत्ति से वे लोगों को दूर करते हैं। मुसलमान एवं अंग्रेज देशी नरेशों के मारफत आदिवासियों पर कहर बरसाते थे। 'विजातीयता से अनजान रही वनांचल के आँगन में पली सहस्राब्दियों की गोद में सुरक्षित अक्षुण्ण संस्कृति के साथ छेड़खानी और बारहमासी नदी की तरह सतत प्रवाहित सहज व नैसर्गिक जीवन में आ रही अवांछित बाधाओं को अब समझा जाने लगा था।' (धूणी तपे तीर, पृ. 50)

बागपाल के थानेदार ने गमेती को खूब पीटा, जिससे उसकी मौत हो जाती है। इस खबर को सुनकर आदिवासी लोग बागपाल थाने को घेरकर थानेदार सहित शराब के ठेकेदार को मार गिराये, जिसको रोकने के लिए महाराणा मेवाड़ ने 150 घुड़सवार, 500 पैदल सिपाही की हथियारबंद फौज लोनारगाँव के जागीरदार तथा राजा अमर सिंह के नेतृत्व में कठोर दंड के हिदायत के साथ भेजी। भैंस रोड गढ़ के ठाकुर प्रताप सिंह, शिवपुरा के ठाकुर राजा सिंह, मौलवी अब्दुल रहमान खान, कुराबड़ के जागीरदार राबल रतन सिंह, तखत सिंह मेहता व बलढणा के ठाकुर मदन सिंह एवं महाराणा के निजी सचिव श्यामल दास आदि मिलकर आदिवासियों से संघर्ष किया। इस संघर्ष में 74 आदिवासी मारे गये तथा अनेक घायल हो गये। कर्नर ब्लेयर सैरवाड़ा छावनी को सुरक्षित रखने के लिए एरिनपुरा एवं अहमदाबाद सेवा मुख्यालय को खबर भेजी। लेकिन महाराणा के निजी सचिव श्यामलदास आदिवासियों से वार्ता करके विद्रोह को दबा देते हैं। लेकिन खैरवाड़ा क्षेत्र के जागीरदार को घेरकर आदिवासियों ने 38 प्रावधानों पर समझौता किये। आदिवासी विद्रोह इस तरह महीनों तक राजस्थान एवं गुजरात में चलता रहा। अक्टूबर 1881 ई0 में अंग्रेजों के टेंटों एवं सामानों को आदिवासियों ने खूब लूटा। इसीलिए अंग्रेज इतिहासकारों आदिवासियों को काफी जलील किया है।

तमाम शांति वार्ताओं एवं कूटनीतिज्ञ चालों में न आकर आदिवासियों ने 1882 ई0 में अंग्रेजों को कड़ी शिकस्त दी, जिसके चलते 'कर्नल ब्लेयर' को वापस इंग्लैंड बुला लिया गया और उसकी जगह स्ट्रेटन को मेवाड़ का नया पॉलिटिकल एजेंट नियुक्त किया गया।' (धूणी तपे तीर, पृ. 62) आदिवासियों की बहादुरी और अपने देश के राजा महाराजाओं की गद्दारी आज के निगमिक पूँजीपतियों के समान ही थी। फिलहाल गोविन्द गुरु आदिवासियों के प्रेरणा पुरुष आज भी हैं। 'पुलिस थाना व कचहरी में किसी भी झगड़े को मत ले जाओ। आपस के विवादों को मिल–बैठकर पंच पंचायती से निपटाओ। दरबारी अदालतों में मनमर्जी से फैसले किये जाते हैं, उनपर भरोसा मत करो। वहाँ आवश्यक वक्त व धन की बरबादी होती है। इससे झगड़े और बढ़ते हैं। मनमुटाव खत्म नहीं होता। पंच परमेश्वर होते हैं। पंचों की बात को सर माथे रखो। पंचायत की आदर करो। गाँव में समझदार गमेती का आदर करो।' (धूणी तपे तीर, पृ. 70) 1878 ई. में पूजा धीरा के नेतृत्व में संप सभा की स्थापना आदिवासियों की सुरक्षा एवं जागृति के लिए बनायी गयी। इससे आदिवासियों की शक्ति का पता दक्षिणी राजपूताना के प्रभारी एजेंट कर्नल बाल्टर्स, महाराज सज्जन सिंह एवं डूंगरपुर रियासत के महारावल उदय सिंह को लग गया। इसीलिए उनलोगों ने 'जनवरी 1884 के दिन मेवाड़ भील कोर को 'रायफल' दी गयी और उसे 'मिलिटरी' का दर्जा दिया गया। उस दिन से सशस्त्र बल की वह बटालियन ब्रिटिश सरकार द्वारा नियंत्रित भारतीय सेवा का अंग बन गयी थी।' (धूणी तपे तीर, पृ. 72) हरिराम मीणा ने 130 वर्ष पुराने आदिवासियों के पराक्रम को इस उपन्यास में दिखाते हैं, परन्तु वैश्वीकरण, निजीकरण, उदारीकरण एवं बाजारी करण के नाम पर आदिवासियों को ही विस्थापित होना पड़ रहा है। चंद्रकांता ने कश्मीरी एवं रणेन्द्र, महुआ माजी, वीरेन्द्र जैन ने आदिवासियों के लिए विस्थापन को शिद्दत से उठाया है। आज के राजनेताओं ने उद्योगपतियों की तरह उसी समय के राजा महाराजा भी संन्यासी या बाबा को संरक्षण देते थे। इसलिए गोविन्द गुरु ने कुरिया के मन में जो शक था, उसे पहले दूर किया। आदिवासियों के दिलदिमाग को गोविन्द गुरु ने जीत लिया है। डूंगरपुर के दरबार विजय सिंह गोविन्द गुरु को समझते हैं कि आदिवासियों में जागृति लाकर भड़काओ मत। उनलोगों को सभी प्रकार के कर देने की बात करो। गोविन्द गुरु उनके झाँसे में नहीं आये। इसीलिए गोविन्द गुरु एवं दीना को जेल में डाल दिया गया। आज के नक्सलवादी एवं माओवादियों की तरह आदिवासियों एवं दीना को उस समय जेल में डाला गया था।

इसी प्रकार लुका–छिपीवाला खेल आज नक्सलियों एवं माओवादियों के साथ हो रहा है। इसका जीवंत उदाहरण महाश्वेता देवी के उपन्यास 'जंगल के दावेदार', वीरेन्द्र जैन के 'डूब', श्रीप्रकार मिश्र के 'जहाँ बाँस फूलते हैं', 'रूपतिल्ली की कथा', रणेन्द्र के 'ग्लोबल ग्राम के देवता' एवं महुआ माजी के उपन्यास 'मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ' में देख सकते हैं। आदिवासी समाज के नायक दास, जोरिया भगत, रूपा जोरिया टंट्या मामा एवं गलिया को राजद्रोह के उपलक्ष्य में फाँसी दे दी गयी। गोविन्द गुरु धीरे–धीरे आदिवासियों के कर्णधार एवं विश्वास पात्र बनते गये। उनकी दहशत से 1905 में लार्ड मिन्टो ने कर्जन की जगह वायसराय का पदभार लेते ही 1906 के बाद देशी नरेशों के प्रति 'अधीनस्थ सहयोग' की नीति अपनायी। राजा–महाराज अपनी सत्ता बचाने के लिए वायसराय लार्ड मिन्टो का उदयपुर के जुग निवास में खूब सत्कार किया। इसी तरह से लोकतंत्र में छुटभइये नेता जिला, तहसील या गाँवों में बड़े नेताओं का आज भी आदर सत्कार एवं चापलूसी करके शोषण कर रहे हैं। इधर छोटे जागीरदार एवं आदिवासियों में तनाव बढ़ता गया। इधर धर्मा भगत की हत्या के बाद गोविन्द गुरु ने धैर्य से निर्णय लिया। 20 फरवरी, 19010 को गोविन्द गुरु ने पटेलों एवं ठाकुरों का समझौता पत्र तैयार करवाकर संप सभा की जवाबदेही सोमाभाई को सौंपी थी। यानी गोविन्द गुरु आदिवासियों को

अंधश्रद्धा, बेगारी, नशाखोरी एवं अंग्रेजों के दमन से दूर रखने की सतत कोशिश करते रहे। गोविन्द गुरु बंजारे जाति के होने के बावजूद, गुजरात, राजस्थान एवं मध्यप्रदेश के सीमावर्ती इलाकों का दौरा करके आदिवासियों में नई चेतना जगायी। वे पटेलों एवं महाराजाओं के खिलाफ आदिवासियों को लड़ने के लिए तैयार न करके अंग्रेजों के दमन को कुचलना चाहते थे, परन्तु पटेल, महाराजा एवं करिंदे सबसे ज्यादा आदिवासियों को ही परेशान कर रहे थे। इसीलिए गोविन्द गुरु को गिरफ्तार करके फाँसी देने के बदले आजीवन कारावास दिया गया। गोविन्द गुरु की धूणी ध्वजा, संप सभा के प्रभाव से आदिवासी जागीरदारों, महाराजाओं एवं अंग्रेजों से सतत लड़ते रहे। गोविन्द गुरु का मानवीय पहलू 'रे कुरिया भाई, हम एक माँ के पेट के जाया तो नहीं, पर धूणी माता की गोद में पलकर हम एक से भगत बने हैं। मुझ जैसे साधु की साधना का पुण्य परताप तेरे साथ है। अब तू ही मेरी दाहिनी भुजा है। तू लड़ते रहना मेरे बांका भगता। धरम के कुरछेत्तर में देर सबेर भोलेनाथ हमें जरूर जिताएगा।' मानगढ़ पर्वत पर यहाँ–वहाँ उगी हुई नागफनियों के हजारों हाथ दवा में हिलते प्रतीत हुए। विभिन्न पालों के जो आदिवासी जत्थे मानगढ़ के नीचे की पहाड़ियों पर एकत्रित थे, कुरिया उधर चला गया।' (धूणी तपे तीर, पृ. 376) आज गुजरात सरकार ने वोट बैंक के लालच में गोविन्द गुरु मध्य गुजरात विश्वविद्यालय स्थापित कर रही है। इससे आदिवासियो की परेशानी दूर नहीं होगी; क्योंकि सरपंच, विधायक, सांसद आदिवासियों के एजेंट बनकर आदिवासियो को ही लूट रहे हैं। यहाँ तक कि तलारी या पटवारी से लेकर मुख्य सचिव तक आदिवासी होकर आदिवासियों को ही चूना लगा रहे हैं। फिलहाल गोरे अंग्रेज चले गये, परन्तु काले अंग्रेजों के रक्तबीज तलारी वा लेखपाल से लेकर सचिव तक तथा सरपंच से लेकर राष्ट्रपति तक आदिवासी एवं दलितों को ही लूटते हैं। 'धूणी तपे तीर' की कथावस्तु पात्रानुकूल एवं स्वाधीनता संग्राम के अंतर्विरोधी को भी उभारती है।

'धूणी तपे तीर' की भाषा शैली एवं रचना कौशल यथार्थ, अतीतानुरागी, व्यंग्यात्मक, बिम्बपरक, प्रतीकात्मक, अरबी, फारसी, उर्दू, अंग्रेजी, राजस्थानी, भीली, गुजराती आदि शब्दों से ओत–प्रोत होते हुए भी काफी सम्प्रेषणीय है। इसीलिए उपन्यास सहृदयों को ऊबाता नहीं, बल्कि स्वाधीनता संग्राम की विसंगतियों को जानने के लिए पाठकों में जिज्ञासा उत्पन्न करता है। गोविन्द गुरु एवं आदिवासियों के प्रयास, साहस एवं स्वाधीनता संग्राम के रणनीति को समझने का एक सहज स्वाभाविक भाषिक माध्यम है। जागीरदार, राजा, महाराज, अंग्रेजों के पिछलग्गू बनकर आदिवासियों पर ही कहर ढाते थे। लेखक मीणा ने जीवंत भाषा, संवाद एवं चरित्र का उपयोग करके उपन्यास का कलेवर प्रदान किया है। 'दरबार हॉल के पीछे खुले लॉन में भोज के आयोजन की सारी तैयारी हो चुकी थी। मेवाड़ राज्य के जागीरदार, अंग्रेज अफसर और विशेष रूप से आमंत्रित महारावल डूंगरपुर एवं बाँसवाड़ा वहाँ आ चुके थे। वायसराय महाराणा फतेहा सिंह के साथ महल की छत पर टहलने चले गये। वहाँ उन्होंने सूर्यास्त का नजारा देखा। अरावली पर्वत शृंखलाओं की एक पहाड़ी की ओट में सूरज छिप गया था। हवा में थोड़ी ठंडक थी। गुलाबी सर्दी का एहसाह हो रहा था। पिछोला झील लबालब भरी हुई थी और उसके मध्य अवस्थित था जुग निवास महला।' (धूणी तपे तीर, पृ. 242) आज भी लोकतांत्रिक तथाकथित सरपंच, प्रधान, लेखापाल, पटवारी या अधिकारी जुग निवास महल जैसे घर बनाकर रह रहे हैं और आदिवासियों, अनपढ़ों एवं दलितों को लूट रहे हैं। यों देखा जाय तो मीणा जी ने वर्णनात्मक,पात्रात्मक, कथात्मक, दार्शनिक, भाषणात्मक, संवादात्मक, चेतना प्रवाह, व्यंग्यात्मक, प्रश्नात्मक, प्रेरणात्मक, चित्रात्मक एवं गीतात्मक शैलियों का अच्छा प्रयोग करके उपन्यास को सोद्देश्य लिखा है। उनके एक गीत के माध्यम से इस बात को भली प्रकार समझा जा सकता है–

झालोद मांय मारी कुंडी है
दाहोद मांय मारो दीयो है
भूरेटिया नी मानु रे
गोधरा मांय मारी जाजम है
अहमदाबाद मांय बैठक है
दिल्ली मांय मारी गादी है
बेणेश्वर मांय मारो चोपड़ो है
मानगढ़ मारी धूणी है
भूरेटिया नी मानु रे
जाम्बू में मारो अखाड़ो है
मानगढ़ मारो वेरा है
वेरा ने वाली ने पंचायत राज करबू है
भूरेटिया नी मानु रे ..।' (धूणी तपे तीर, पृ.308–9)

आदिवासी सभ्यता एवं सस्कृति का बाजारीकरण एवं ब्राह्मणीकरण होने से पर्यावरण की समस्या उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है। उन्होंने भाषा शैली को सम्प्रेषणीय, पात्रानुकूल एवं सहृदय सापेक्ष बनाने के लिए मुहावरे–तितर–बितर होन, पल्ले नहीं पड़ना, हाथ पीले करना, पैरों नीचे से जमीन खिसकना, डूबते को तिनके का सहारा, अकल मारी जाना, ठंडे दिमाग से काम लेना, उल्लू सीधा करना, टेढ़ी नजर से देखना, इकटक निगाहों से देखना, टुकुर टुकुर देखना, मन में बात बैठना, फुसफुसाहट करना,दंग रह जाना, पैरों पर कुल्हाड़ी मारना, फूट फूटकर रोना, अक्ल के घोड़े पर सवार होना, मुँह लटकाना आदि का प्रयोग करने से पात्रों की मन:स्थिति को समझने में आसानी होती है। उन्होंने ऊँट के मुँह में जीरा, सीधी अंगुली से घी नहीं निकलता, बिच्छ काटा रोवे और साँप काटा सोवे, जैसा राजा वैसी प्रजा एवं सूनसान रातों में महुआ चुपचाप रोती जैसी कहावतों का प्रयोग करके भाषा शैली की रवानगी एवं सम्प्रेषणीयता को बढ़ाया है। हरिराम मीणा की इस उपन्यास में समग्र प्रस्तुति आदिवासियों के स्वाभिमान, संघर्ष एवं पौरुष को जगाना है। 'धूणी तपे तीर' उपन्यास के शीर्षक में कहीं न कहीं आदिवासियों की विडम्बना और उनके क्षेत्रों में आज के बाबाओं द्वारा बनाये गये आश्रमों (धूणी) का प्रकारान्तर से मखौल उड़ाना भी है। यानी आज की स्थिति 'कहाँ राजा भोज कहाँ गंगुआ तेली' जैसी हो गयी है। गोविन्द गुरु का समग्र अवदान सामंती व्यवस्था, निगमिक पूँजीवाद एवं 'धूणी' (आश्रमों) की पोल खोलते हैं।

इस उपन्यास में जहाँ लेखक ने आदिवासी भाषा का प्रयोग किया है, वहाँ अर्थ सम्प्रेषण थोड़ी परेशानी होते हुए भी पूर्वापर घटना क्रमों के आधार पर वस्तु स्थिति का तुरंत ख्याल आ जाता है। आदिवासियों की लिपि, भाषा, संस्कृति एवं संस्कृति पर भी काफी खतरे मँडरा रहे हैं। तकनीकी एवं वैज्ञानिकीकरण से आदिवासी ही प्रभावित हो रहे हैं। जो आदिवासी पढ़–लिखकर विधायक, सांसद या अधिकारी बन गये, वही लोग आदिवासी साहित्य लिखकर आदिवासियों के हीरो बनते जा रहे हैं। हमारे देश में शोषण की नीति 'मत्स्य न्याय' की तरह आद्यंत चल रही है। इसलिए 'धूणी तपे तीर' उपन्यास में चित्रित तमाम विडंबनाओं एवं अंध

श्रद्धाओं को छोड़कर आदिवासी ज्ञान–विज्ञानी रूपी तीर को और नुकीला एवं सर्जनात्मक बनाकर भारतीय इतिहास में अपना नाम गोविन्द गुरु, बिरसा मुंडा या झलकारी बाई की तरह दर्ज कराएँगे। भले ही लेखक ने 'धूणी तपे तीर' में जागीरदार, राजा महाराजा, थानेदार एवं अंग्रेजों के त्रास एवं शोषण को दिखाया है, परन्तु आज भी आदिवासियों के साथ सतत 'शतरंज की मोहरें' बौद्धिक माफिया अपना उल्लू सीधा करने के लिए खेल रहे हैं। इसीलिए आदिवासियों की 'धूणी तपे तीर' आज के साधु संतों से बिल्कुल अलग है। आज भी आदिवासी जल, जंगल और जमीन के जतन में सतत क्रियाशील हैं। आदिवासियों की समस्याओं को सुनने के लिए आज कोई भी तैयार नहीं है; क्योंकि बहुसंख्यक वर्ग तकनीकी एवं सुख–सुविधाओं से दूर रहेंगे तो बौद्धिक एवं राजनेता अपनी–अपनी रोटियाँ सतत सेंक रहे हैं। कुल मिलाकर देखा जाए तो लेखक ने 'धूणी तपे तीर' को सहृदयों के सामने सहज, सरल एवं स्वाभाविक भाषा शैली में लिखा है। लेखक का उपन्यास संयोजन कथाओं के अनुरूप गुजरात, राजस्थान एवं मध्यप्रदेश के आदिवासियों की स्थितियों को जगह–जगह पर उन्हीं की भाषा में व्यक्त करके काफी सम्प्रेषणीय बनाने की कोशिश की है। इस दृष्टि से देखा जाए तो 'धूणी तपे तीर' उपन्यास मील का पत्थर साबित होगा।

–कश्मीर सिंह

चलता चल

जितना चल सकता है
चल
रुकने का समय नहीं रहा अब।
थक गया क्या
दर्द है
अकड़ी है
देह जो
पलभर आराम को
थोड़ा ही तो रहा अब...
चल, चलता चल
चलता चल, बीत रहा वक्त
हर पल, चल चल चल चल...।

2

तेज बारिश

थी
बारिश तेज
कि....
सब कुछ
बह गया
रहा न
कोई
अपना...
बाकि
सब कुछ
रह गया

–उर्वशी जाह्नवी अग्रवाल 'ऊर्जा'
आसफ अली रोड, नई दिल्ली
9871572999

नाजुक सा शीशा

ऐसी दुनिया की मुझको चाहत नहीं है
जहाँ मुझसे किसी को मोहब्बत नहीं है
दवा पर यकीन मैं कर लूँ तो कैसे
यहाँ दर्दों को मिलती राहत नहीं है
अपनों से लड़ना है कहाँ की रवायत
यहाँ मेरी किसी से बगावत नहीं है
गँवारा नहीं है, रिश्तों की पेशी
सच्ची यहाँ पर अदालत नहीं है
करूँ मैं लड़ाई तो हिस्सा हक मिलेगा
मुझमें तो लड़ने की हिम्मत नहीं है
पता मेरा ढूँढें खुशियाँ कभी ता
हाय! मेरी तो ऐसी किस्मत नहीं है
बहू–बेटी की जिस घर में इज्जत नहीं है
रह सकती कभी वहाँ बरकत नहीं है
हिफाजत से रखना कीमती अना को
है नाजुक सा शीशा खाली अस्मत वही है
पत्थर उछाले चाहे लाख जमाना
पीछे हटने की मेरी आदत नहीं है
भूला खुदा भी लिखना मुकद्दर
फिरभी किसी से शिकायत नहीं है
आँखों में देखूँ न मानु बुजुर्गों की
'ऊर्जा' इतनी तो तरी जुर्जत नहीं है

मेरी आँख में पानी

यह देखकर डर गया मेरी आँख का पानी
आखिर क्यों मर गया तेरी आँख का पानी
जो अक्सर भर जाता था तेरी आँखों में
वो अब किधर गया मेरी आँख का पानी
तुम नहीं आते बस तुम्हारी याद आती है
सोचकर बिखर गया मेरी आँख का पानी
सितम तेरे करम मेरे, मैं याद करती हूँ
खुद ही उतर गया मेरी आँख का पानी
रूमाल भर की भी तसल्ली न मिली यारों
जाने किस घर गया मेरी आँख का पानी
पत्ता–पत्ता डाली–डाली, भींगी सारी हरियाली
मचाकर फिर गदर गया मेरी आँख का पानी
पूछो वजह मुझे पानी खारा होने की दोस्तों
सरिता बन सागर गया मेरी आँख का पानी
हुआ रुखसार गुलाबों का शबनमी–शबनमी,
बूँद बनकर निखर गया मेरी आँख का पानी।
फूँक डाला ज़नाज़ा मेरा और आँखें नम नहीं
खुद धोने मेरी कब्र गया मेरी आँख का पानी
हैरान हुई देखूँ खड़ी, मैं बेचारी गाँव तभी
क्योंकर ऐसे शहर गया मेरी आँख का पानी।

कविता

कल्पना मिश्रा बाजपेई
कानपुर, उत्तर प्रदेश
9455878280

अल्फ़ाज़

आओ ना सुनो!
देखो यहाँ अल्फ़ाज़ों का बाज़ार
गरम है...
अल्फ़ाज़ों ने जमा ली है अपनी
खुद की महफ़िल सतरंगी
बस अब, इनको कोई
ध्यान से सुननेवाला चाहिए
निगाहें ताक़तीं हैं
एक दूसरे को कुछ इस तरह
की शायद अभी कोई गौर
फ़रमा दे उनके अल्फ़ाज़ों पर,
पर यहाँ तो...
जमाने भर से दबे जज्बातों ने
पहन लिया है जामा
अल्फाजों का अब तो बस उन्हें
अपनी ही कहना है
अरे कोई तो देखो ना...
उस कोने में बैठी हुई देवी को
कब से उस सुंदरी के
चहरे के भाव आँखें होंठ–
कुछ कहना चाहती हैं
बस सिर्फ एक बार मेरी भी सुन लेती
ऐसा नहीं, मेरे पास भी एक मजेदार
वाकिया है आप सब के लिए
पर इंतजार बस इंतजार....
लेकिन सबको सुनना पड़ता होगा
वैसे बोलना तो....
सभी को आता है यारो
एक मौका उसको भी देकर देखो
जो लगातार सिर्फ और सिर्फ
आपको सुन रहा था...

2)

थोड़ा सा अपनापन
मैं सोचती हूँ जब कभी भी...
तू रात को मेरी गोद में
दुबक कर चैन की नींद सो जाता है...
तब तुझे मैं
कश्मीर से कन्याकुमारी तक
हर मंदिर में करवाती हूँ दर्शन
और माँगती रहती हूँ तेरी उन्नत
भविष्य की मन्नत...
क्योंकि मुझे मालूम है कि
संसार की आपा–धापी से तू भी
अछूता नहीं बचेगा
तू स्वस्थ रहे और व्यस्त भी रहे
इन सबके बीच में भी
मैं तलाश लूँगी अपने सकून को
बस डर तो इस बात का है कि
तू कहीं पराया न हो जाए
बच्चों का परायापन ही तो
सालता रहता है नासूर की तरह
बूढ़े माँ बाप के कलेजे को
आखिर उन्हें क्या चाहिए?
धन दौलत नहीं तो बिल्कुल नहीं
बस थोड़ा सा अपनेपन की
उम्मीद करते हैं माता–पिता अपनी
औलाद से और ज्यादा कुछ नहीं
क्या तू मुझे....??

महावीर राजी
केडिया मार्केट, आसनसोल
9832194614

आओ... आ भी जाओ...

ओढ़ तारों की चुनरिया खिल उठा आकाश
प्रिये लौट जाओ

बादलों सी जुल्फ का घूँघट हटाकर
खिलखिलाते पद्म सा तेरा चेहरा
झील सी आँखें सुनहरे ख्वाब वाली
स्वयं में ही देखती प्रतिबिम्ब मेरा
आज मौसम फिर जगायेगा मिलन की प्यास
आओ आ भी जाओ

दूरियों की धून्ध के उस पार तन्हा
शून्य में तुम देखती हो राह मेरी
और मर्यादा मुझे इस पार बाँधे
रह कहीं न जाए सूनी माँग तेरी
राधिका बिन किस तरह कान्हा रचाए रास
राजी री बताओ

प्यार की मंजिल यदि न पा सको तो
प्यार पर से आस्था को खो ना देना
धड़कनों के नीड़ में उन स्मृतियों को
स्वप्न व कसमों को पूजा सी बसाना
उफ, यह कैसा है विरह का कैक्टसी एहसास
आओ, ना सताओ।

मिताक्षरा

—सुधा राजे
विजनौर, उत्तर प्रदेश
9358874117

यूँ ही बैठ जाती है
कभी कभी टूटी हुई सीढ़ियों के पास छत पर जाने की आदत
और एक पल चुरा लेती है जीवन का
नभ को छूने की ललक
कब की बीत गयी
अब तो छत भी उसके पाँवों से
हर बार सतरह पग दूर ही रह जाती है,
बह जाती सीपियों सी आँखों में बंद मोती की माला
और रह जाते हैं खारे सिंधु में सद्यःस्नात नेत्र
डूबते सूर्य को निहारते

कोई नहीं पूछता कैसी हो तुम!
कहाँ वह खुद भी पूछ पाती है थकी हुई रीढ़ से
जिसपर ढोये हैं नौ नौ महीनों तक लगातार बँधे पत्थर
और काट दिये अपने रीढ़ के टुकड़े हर बार
कंठ तक ठूँसी गयी ओढ़नी में बँधी चीखों के साथ,
रह गये निर्निमेष पल
और ठहर गयी पुतलियों के पीछे पथराया मन,
बाँध बाँधकर कितनी रेत डाली
और कितना डाला मन मन माटी
मन मन भर हृदय का होता रहा पाषाण भंडार
फिर भी कगार को बहा ही ले गया जलप्लावन
सूखे रह गये सावन और गीले कब हो सके फागुन
आशा और विश्वास की परवरिश में ही रीत गये सपने
और बीत गयी भोर
रह गया सूनी दोपहर का धू धू जलता शोर
और कब की सब उद्गतियाँ
हटाकर खंड खंड मलबे में बदल चुकीं सीढ़ियाँ
अब तो कौन चढ़े छत पर
चुनौती देती हैं नयी पुरानी पीढ़ियाँ
पाँव से चिपक गयी कब गयी रूपहली पायल
और कंगन कब चढ़ा हाथ में
बिना कलाई को किये किंचित् घायल।

करेगी भी तो क्या अब छत पर जाकर मिताक्षरा
वहाँ कोई भी तो अपना सपना न रहा
कोई मेहनती मोगरे की बेल का आसरा
रह गये ठूँठ हुए कर पग और काया
काठ की पिटारी में बंद लोध रंग कबके सूख चुके हैं
सूखे रक्त की तरह
कोई इतना अकेला होकर आकाश देखे भी तो किस तरह
कई दशकों के बाद बनती है कहने को एक सदी
निर्वीरा हूँ मैं
जैसे मरुस्थल में अंतःसलिला हो गयी एक विषपायनी नदी
थी तो मैं भी कभी सदानीरा...

जननायक

—संतोष पटेल
बेतिया, पश्चिम चंपारण

एक ऐसा नाम जो ना कोई
महानायक का है
ना कोई बड़े गायक का
ना ही किसी भाग्य विधायक का
यह तो नाम है
एक द्रुतगामी रेल का
जो परिचायक है भारी भीड़
और रेलमपेल का
जहाँ साँस टँगी रहती है
शरीर खड़ा रहता है
दबा रहता है
पीसता रहता है
चक्की में जैसे आटा
फिर भी सुनहले सपनों में
उलझा रहता है
देह से निकलता पसीना
भले दूसरों को अच्छा न लगे
मजदूर के लिए
चन्दन समझें/माने
क्योंकि उसी म
बसता है
उसका दाना पानी
उम्मीद की सोना चांदी
भविष्य की कहानी
चार पैसा कमा करें
उलझे भाग्य को सुलझाने की चाह
बूढ़े बाप के लिए चश्मा
माँ के लिए दवाई
और बीवी के लिए
फागुन की साड़ी
उसे तो दिखता है
बस दो जून की रोटी
पूरा परिवार को जिलाने के लिए
समय की फटी हुई चादर
सिलाने के लिए
बच्चों के लिए किताब व पेंसिल
इसी में हो जाता है
सारी कमाई का हिसाब
और इसी सपना में भूल जाता है
की वह जननायक की भीड़ में
कितना दबा हुआ है।

गज़ल

पृष्ठ – 15 का शेष

अभिनव अरुण

—सुधीर कुमार 'प्रोग्रामर',
सुलतानगंज, भागलपुर

3
एहसासे मुहब्बत की खुशबू थी हवाओं में।
खुद को मैं भुला बैठा जाना की अदाओं में।
कलियों की हिफाजत को कांटे भी बना बैठा,
हाते हैं फना भँवरे गुलशन की खताओं में।
बूँदों ने कयामत की बिजली ने गजब ढाया,
तुम याद बहुत आये सावन की घटाओं में।
कुछ तुम भी वफा करते कुछ हम भी वफा करते,
ये उम्र गुजर जाती अपनी भी वफाओं में।
रुख तेज हवाओं का मंजिल की तरफ ही था,
तासीर थी कुछ ऐसी अम्मी की दुआओं में।
रब ख्वाब में आकर बातें किया करता है,
पाकीजगी होती है बच्चों की सदाओं में।
चाँदी के गलीचों पर सोने के खलीफा हैं,
मैं जाऊँ भी तो क्योंकर उन धर्म सभाओं में।
दरबारे खलीफा में रहमत की भी कीमत है,
सच्चाई नहीं मिली दुनिया के खुदाओं में।

4.
ज्ञानी और विज्ञानी रख। बातें सब बेमानी रख।
खुद को तू लासानी रख। कुछ आँखों में पानी रख।
मेरी खूब परीक्षा ले, छोड़ भी दे आसानी रख।
तेरा तुझमें कुछ ना है, खुद से भी गुमनामी रख।
दुनिया चलती रहती है, मत इतनी हैरानी रख।
कान्हा को तू मौत बना, मन मीरा दीवानी रख।
देंगी सौ आशिष तुझे, गौ माता को सान रख।
मेरी गजलें भी पढ़ ले, मोमिन गालिब फानी रख।
तू कबीर हो जाएगा, बस तू मीठी बानी रख।
अल्लाह का बन्दा है तू, तो फितरत इंसानी रख।

5.
कहीं ऐसा वहीं वैसा हुआ तो।
मेरा दुश्मन अगर जिन्दा हुआ तो।
बहुत गहरा है वो सागर के जैसो,
जुबां का सोच लो खारा हुआ तो।
जिसे जन्नत हैं कहते किसने देखा,
वहाँ जाकर यही फाका हुआ तो।
सभी के दिल में है बारूद अच्छा,
मगर बारूद वो ठंडा हुआ तो।
सड़क पर खेलने वाले हैं बच्चे,
शहर में आज फिर दंगा हुआ तो।
जिगर को चाक करते शेर होंगे,
मुहब्बत में अगर धोखा हुआ तो।
हरेक आँचल में माँ का दूध होगा,
कहीं रोता हुआ बच्चा हुआ तो।
दिखाओ और सपने मत हमें तुम,
सियासत का नया नारा हुआ तो।
बहुत काली थी लेकिन रात बीती,
उम्मीदों का उजाला सा हुआ तो।
हवा में बात करता जा रहा है,
अगरचे वक्त का मारा हुआ तो।
मुझे तमगों की कुछ चाहत नहीं है,
अगर एक शेर भी सच्चा हुआ तो।

धरा खुशहाल हों कैसे, लगाकर जोर देखेंगे
खुमारी है जमाने को, जरा झकझोर देखेंगे।
झुकेगा आसमाँ इक दिन, धरा के धैर्य के आगे
उन्हें हम हौसला देंगे, जहाँ कमजोर देखेंगे।
लगी जो पेट में आगी, लहू खौले धमनियों के
मगर रोटी की खातिर अब नहीं हम शोर देखेंगे।
कटोरा फेंक देंगे अब हाँथेली पर रमा होगी
मुहब्बत के बगीचे में मगन चितचोर देखेंगे।
कई नुस्खें बुजुर्गों के, अगर हम आजमायें तो
जहाँ दो फाँक रिश्ते हैं, मिलन का भोर देखेंगे।

2. गजल
चिट्ठी मिली हजूर की मजमून के बगैर
जैसे दही–बड़ा हो कोई नून के बगैर।
साहब सुबह की धूप में बैठे उदास थे
चिड़ियाँ चहक के टोक दी कानून के बगैर।
बी.पी. बढ़ा तो मर गया पैसे की ढेर पे
जीते उसी पड़ोस में कुछ खून के बगैर।
इल्जाम जानवर पे सदियों से लग रहे
मिलता नहीं है आदमी नाखून के बगैर।
कनकन हवा थी पूस की छत से फिसल गई
डुबकी लगाई ओस में साबुन के बगैर।

कहानी

नई रोशनी

—रवीन्द्रनाथ टैगोर

बाबू अनाथ बन्धु बी.ए. में पढ़ते थे, परन्तु कई वर्षों से निरंतर फेल हो रहे थे। उनके संबंधियों का विचार था कि इस वर्ष अवश्य उत्तीर्ण हो जाएँगे, पर इस वर्ष उन्होंने परीक्षा देना ही उचित न समझा। इसी वर्ष अनाथबन्धु का विवाह हुआ। भगवान की कृपा से वधू सुंदर, सच्चरित्र मिली थी। उनका नाम विन्ध्य– वासिनी था। किन्तु अनाथ बाबू को इस हिन्दुस्तानी नाम से घृणा थी। पत्नी को भी वह विशेषताओं और सुंदरता में अपने योग्य न समझते थे।

परन्तु विन्ध्यवासिनी के हृदय में हर्ष की सीमा न थी। दूसरे पुरुषों की अपेक्षा वह अपने पति को सर्वोत्तम समझती थी। ऐसा मालूम होता था कि किसी धर्म में आस्था रखनेवाले श्रद्धालु व्यक्ति की भाँति वह अपने हृदय के सिंहासन पर स्वामी की मूर्ति सजाकर सर्वदा उसी की पूजा किया करती थी।

इधर अनाथ बंधु की सुनिये! वह न जाने किस समय, क्यों हर समय उससे रुष्ट रहते और तीखे–कड़वे शब्दों में उसके प्रेम–भरे मन को हर संभव ढंग पर जख्मी करते रहते। अपनी मित्र–मंडली में भी वह उस बेचारी को घृणा के साथ स्मरण करते। जिन दिनों अनाथ बंधु कॉलेज में पढ़ते थे, उनका निवास ससुराल में ही था। परीक्षा का समय आया, किन्तु उन्होंने परीक्षा दिये बगैर ही कॉलेज छोड़ दिया। इस घटना पर अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा विन्ध्यवासिनी को अधिक दुःख हुआ। रात के समय उसने विनम्रता के साथ कहना आरंभ किया–'प्राणनाथ! आपने पढ़ना क्यों छोड़ दिया?थोड़े दिनों का कष्ट सह लेना कोई कठिन बात न थी। पढ़ना–लिखना तो कोई बुरी बात तो नहीं है।' पत्नी की इतनी बात सुनकर अनाथ बंधु के मिजाज का पारा 120 डिग्री तक पहुँच गया। बिगड़कर कहने लगे–'पढ़ने–लिखने से क्या मनुष्य के चार हाथ–पाँव हो जाते हैं?जो व्यक्ति पढ़–लिखकर अपना स्वास्थ्य खो बैठते हैं, उनकी दशा अंत में बहुत बुरी होती है।' पति का उत्तर सुनकर विन्ध्यवासिनी ने इस प्रकार स्वयं को सान्त्वना दी, जो मनुष्य गदहे या बैल की भाँति कठिन परिश्रम करके किसी–न– किसी प्रकार सफल भी हो गये, परन्तु कुछ न बन सके तो फिर उनका सफल होना, न होना बराबर है।

इसके दूसरे दिन पड़ोस में रहनेवाली सहेली कमला विन्ध्यवासिनी को एक समाचार सुनाने आयी। उसने कहा–'आज हमारे भाई बी.ए. की परीक्षा में उत्तीर्ण हो गये। उनको बहुत कठिन परिश्रम करना पड़ा, किन्तु भगवान की कृपा से परिश्रम सफल हुआ।'

कमल की बात सुनकर विन्ध्य ने समझा कि पति की हँसी उड़ाने को कह रही है। वह सहन कर गयी और दबी आवाज से कहने लगी–'बहन! मनुष्य के लिए बी.ए. पास कर लेना कोई कठिन बात नहीं, परन्तु बी.ए. पास कर लेने से होता क्या है?विदेशों में लोग बी.ए. और एम.ए. पास व्यक्तियों को घृणा की दृष्टि से देखते हैं।'

विन्ध्यवासिनी ने जो बातें कमला से कही थीं, वे सब उसने अपने पति से सुनी थीं, नहीं तो उस बेचारी को विलायत का हाल क्या मालूम था। कमला आयी तो थी हर्ष का समाचार सुनाने, किन्तु अपनी प्रिय सहेली के मुख से ऐसे शब्द सुनकर उसको बहुत दुःख हुआ। परन्तु समझदार लड़की थी। उसने अपने हृदयगत भाव प्रकट न होने दिये। उल्टा विनम्र होकर बोली–'बहन! मेरा भाई तो विलायत गया ही नहीं और न मेरा विवाह ऐसे व्यक्ति से हुआ, जो विलायत होकर आया हो, इसलिए विलायत का हाल मुझे कैसे मालूम हो सकता है?' इतना कहकर कमला अपने घर चली गयी।

किन्तु कमला का विनम्र स्वर होते हुए भी ये बातें विन्ध्य को अत्यन्त कटु प्रतीत हुई। वह उनका उत्तर तो क्या देती, हाँ, एकांत में बैठकर रोने लगी।

इसके कुछ दिनों पश्चात् एक अजीब घटना घटित हुई, जो विशेषतः वर्णन करने योग्य है। कलकत्ता से एक धनवान व्यक्ति जो विन्ध्य के पिता राजकुमार के मित्र थे, अपने कुटुम्ब– सहित आये और राजकुमार बाबू के घर अतिथि बनकर रहने लगे। चूँकि उनके साथ कई आदमी नौकर–चाकर थे, इसलिए जगह बनाने को राजकुमार बाबू ने अनाथ बंधु वाला कमरा भी उनको सौंप दिया और अनाथ बंधु के लिए एक छोटा–सा कमरा साफ कर दिया। यह बात अनाथ बंधु को बहुत बुरी लगी। तीव्र क्रोध की दशा में वह विन्ध्यवासिनी के पास गये और ससुराल की बुराई करने लगे। साथ–ही–साथ उस निरपराधिनी को दो–चार बातें सुनायीं। विन्ध्य बहुत व्याकुल और चिंतित हुई, किन्तु वह मूर्ख न थी। उसके लिए अपने पिता को दोषी ठहराना योग्य न था। किन्तु पति को कह–सुनकर ठंडा किया। इसके बाद एक दिन अवसर पाकर उसने पति से कहा कि–'अब यहाँ रहना ठीक नहीं। आप मुझे अपने घर ले चलिये। इस स्थान में रहने पर सम्मान नहीं है।'

अनाथ बंधु परले सिरे के घमंडी व्यक्ति थे। उनमें दूरदर्शिता की भावना बहुत कम थी। अपने घर पर कष्ट से रहने की अपेक्षा उन्होंने ससुराल का अपमान सहना अच्छा समझा, इसलिए आना–कानी करने लगे। किन्तु विन्ध्यवासिनी ने न माना और कहने लगी–'यदि आप जाना नहीं चाहते, तो मुझे अकेली भेज दीजिए। कम–से–कम मैं ऐसा अपमान सहन नहीं कर सकती।' इसपर अनाथ बंधु विवश हो घर जाने को तैयार हो गये।

चलते समय माता–पिता ने विन्ध्य से कुछ दिनों और रहने के लिए कहा, किन्तु विन्ध्य ने कुछ उत्तर न दिया। यह देखकर माता–पिता के हृदय में शंका हुई। उन्होंने कहा–'बेटी विन्ध्य! यदि हमसे कोई ऐसी वैसी बात हुई हो तो उसे भुला देना।'

बेटी ने नम्रतापूर्वक पिता के मुँह की ओर देखा, फिर कहने

लगी–'पिताजी! हम आपके ऋण से कभी उऋण नहीं हो सकते। हमारे दिन सुख से बीते और...।' कहते–कहते विन्ध्य का गला भर आया, आँखों से आँसू बहने लगे। इसके पश्चात् उसने हाथ जोड़कर माता–पिता से विदा चाही और सबको रोता हुआ छोड़कर पति के साथ चल दी।

कलकत्ता के धनवान और ग्रामीण जमींदारों में बहुत बड़ा अंतर है। जो व्यक्ति सर्वदा नगर में रहा हो, उसे गाँव में रहना अच्छा नहीं लगता, किन्तु विन्ध्य ने पहली बार नगर से बाहर कदम रखने पर भी किसी प्रकार का कष्ट प्रकट न किया, बल्कि ससुराल में हर प्रकार से प्रसन्न रहने लगी। इतना ही नहीं, उसने अपने नारी–सुलभ–चतुरता से बहुत शीघ्र अपनी सास का मन मोह लिया। ग्रामीण स्त्रियाँ उनके गुणों को देखकर प्रसन्न होती थीं, परन्तु सब–कुछ होते हुए भी विन्ध्य प्रसन्न न थी। अनाथ बंधु के तीन भाई और थे–दो छोटे, एक बड़ा। बड़े भाई परदेश में पचास रुपये के नौकर थे। इससे अनाथ बंधु के घर–वार का खर्च चलता था। छोटे भाई अभी स्कूल में पढ़ते थे। बड़े भाई की पत्नी श्यामा को इस बात का घमंड था कि उसके पति की कमाई से सबको रोटी मिलती है, इसलिए वह घर के काम–काज को हाथ तक न लगाती थी।

इसके कुछ दिनों के पश्चात् बड़े भाई छुट्टी लेकर घर आये। रात को श्यामा ने भाई और भौजाई की शिकायत की। पहले तो पति ने उसकी बातों को हँसी में उड़ा दिया, परन्तु जब उसने कई बार कहा, तो उन्होंने अनाथ बंधु को बुलाया और कहने लगे–'भाई! पचास रुपये में हम सब का गृहस्थ नहीं चला सकता। अब तुमको भी नौकरी की चिंता करनी चाहिए।'

यह शब्द उन्होंने बड़े प्यार से कहे थे, परन्तु अनाथ बंधु बिगड़कर बोले–'भाई साहब! दो मुट्ठी–भर अन्न के लिए आप इतने रुष्ट होते हैं। नौकरी तलाश करना कोई बड़ी बात नहीं, किन्तु हमसे किसी की गुलामी नहीं हो सकती।' इतना कहकर वे भाई के पास से चले आये।

इन्हीं दिनों गाँव के स्कूल में थर्ड मास्टर का स्थान खाली हुआ था। अनाथ बंधु की पत्नी और उनके बड़े भाई ने उस स्थान पर उनसे काम करने के लिए बहुत कहा, किन्तु उन्होंने ऐसी तुच्छ नौकरी स्वीकार न की। अब तो अनाथ बंधु को केवल विलायत जाने की धुन समायी हुई थी। एक दिन अपनी पत्नी से कहने लगे–'देखो, आजकल विलायत गये बिना मनुष्य का सम्मान नहीं होता और न अच्छी नौकरी मिल सकती है। इसलिए हमारा विलायत जाना आवश्यक है। तुम अपने पिता से कहकर कुछ रुपया मँगा दो, तो हम चले जाएँगे।'

विलायत जाने की बात सुनकर विन्ध्य को बहुत दुःख हुआ, पिता के घर से रुपया मँगाने की बात से बेचारी की जान ही निकल गयी।

दुर्गा–पूजा के दिन समीप आये तो विन्ध्य के पिता ने बेटी और दामाद को बुलाने के लिए आदमी भेजा। विन्ध्य खुशी–खुशी मैके आयी। माँ ने बेटी और दामाद को रहने के लिए अपना कमरा दे दिया। दुर्गा–पूजा की रात को यह सोचकर पति न जाने कब वापस आएँ, विन्ध्य प्रतीक्षा करते–करते सो गयी।

सुबह उठी तो उसने अनाथ बंधु को कमरे न पाया। उठकर देखा तो माँ के लोहे का संदूक खुला पड़ा था, सारी चीजें इधर–उधर बिखरी पड़ी थीं और पिता का छोटा कैश–बॉक्स, जो उनके अंदर रखा था, गायब था। विन्ध्य का हृदय धड़कने लगा। उसने सोचा कि जिस बदमाश ने चोरी की है, उसी के हाथों पति को भी हानि पहुँची है।

परन्तु थोड़ी देर बाद उसकी दृष्टि एक कागज के टुकड़े पर जा पड़ी। वह उठाने लगी तो देखा कि पास ही कुंजियों का एक गुच्छा पड़ा है। पत्र पढ़ने से मालूम हुआ कि उसका पति आज ही प्रातः जहाज पर सवार होकर विलायत चला गया है।

पत्र पढ़ते ही विन्ध्य की आँखों के सामने अँधेरा छा गया। वह दुःख के आघात से जमीन पर बैठ गयी और आँचल से मुँह ढाँपकर रोने लगी। आज सारे बंगाल में खुशियाँ मनायी जा रही थीं, किन्तु विन्ध्य के कमरे का दरवाजा अबतक बंद था। इसका कारण जानने के लिए विन्ध्य की सहेली कमला ने दरवाजा खटखटाना आरंभ किया, किन्तु अंदर से कोई उत्तर न मिला, तो वह दौड़कर विन्ध्य की माँ को बुला लायी। माँ ने बाहर खड़ी होकर आवाज दी–'विन्ध्य! अंदर क्या कर रही हो?दरवाजा तो खोल बेटी!' माँ की आवाज पहचानकर विन्ध्य ने झट आँसुओं को पोंछ डाला और कहा–'माताजी! पिताजी को बुला लो।' इससे माँ बहुत घबरायी, अतः उसने तुरंत पति को बुलवाया। राजकुमार बाबू के आने पर विन्ध्य ने दरवाजा खोल दिया और माता–पिता को अंदर बुलाकर फिर दरवाजा बंद कर लिया।

राजकुमार ने घबराकर पूछा–'विन्ध्य! क्या बात है?तू रो क्यों रही है?' यह सुनते ही विन्ध्य पिता के चरणों में गिर पड़ी और कहने लगी–'पिताजी! मेरी दशा पर दया करो। मैंने आपका रुपया चुराया है।' राजकुमार आश्चर्य–चकित रह गये। उसी हालत में विन्ध्य ने फिर हाथ जोड़कर कहा–'पिताजी! इस अभागिन का अपराध क्षमा कीजिए। स्वामी को विलायत भेजने के लिए मैंने यह नीच कर्म किया है।'

अब राजकुमार को बहुत क्रोध आया। डाँटकर बोला– 'दुष्ट लड़की! यदि तुझको रुपये की आवश्यकता थी, तो हमसे क्यों न कहा?'

विन्ध्य ने डरते–डरते उत्तर दिया–'पिताजी! आप उनको विलायत जाने के लिए रुपये न देते।'

ध्यान देनेयोग्य बात है कि जिस विन्ध्य ने कभी माता– पिता से रुपये–पैसे के लिए विनती तक न की थी, आज वह पति के पाप को छिपाने के लिए चोरी का इल्जाम अपने ऊपर ले रही है। विन्ध्यवासिनी पर चारों ओर से घृणा की बौछारें होने लगीं। बेचारी सब–कुछ सुनते रही, किन्तु मौन थी। तीव्र क्रोधावेश की दशा में राजकुमार ने बेटी को ससुराल भेज दिया।

इसके बाद समय बीतता गया, किन्तु अनाथ बंधु ने विन्ध्य को कोई पत्र न लिखा और न अपनी माँ की ही कोई सुध–बुध ली। पर जब आखिरकार सब रुपये, जो उनके पास थे, खर्च हो गये तो बहुत ही घबराये और विन्ध्य के पास एक तार भेजकर तकाजा किया। विन्ध्य ने तार पाते ही अपने बहुमूल्य आभूषण बेच डाले और उनसे जो मिला, वह अनाथ बाबू को भेज दिया। अब क्या था, जब कभी रुपयों की आवश्यकता होती, वह झट विन्ध्य को लिख देते और विन्ध्य से जिस

तरह बन पड़ता, अपने रहे–सहे आभूषण बेचकर उनकी आवश्यकताओं को पूरा करती रहती। यहाँ तक कि बेचारी गरीब के पास काँच की दो चूड़ियों के सिवाय कुछ भी शेष न रहा।

अब अभागी विन्ध्य के लिए संसार में कोई सुख शेष न रहा था। संभव था वह किसी दिन दुखी हालत में आत्महत्या कर लेती। किन्तु वह साचेती कि मैं स्वतंत्र नहीं, अनाथ बंधु मेरे स्वामी हैं। इसलिए कष्ट सहते हुए भी वह जीवन के दु:ख उठाने पर विवश थी। अनाथ बंधु के लिए वह जीवित रहकर अपना कर्तव्य पूरा कर रही थी, किन्तु अब चूँकि उसके लिए विरह का दु:ख सहना कठिन हो गया था।

इसके थोड़े दिनों के बाद अनाथ बंधु बैरिस्टरी पास करके साहब बहादुर बने हुए वापस लौट आये, परन्तु देहात में बैरिस्टर साहब का निर्वाह होना कठिन था, इसलिए पास ही एक कस्बे में होटल का आश्रय लेना पड़ा। विलायत में रहकर अनाथ बंधु के रहन–सहन में बहुत अंतर आ गया था। वह ग्रामीणों से घृणा करते थे। उसके खान–पान और सहन–सहन के तरीकों से यह भी मालूम न होता था कि वह अंग्रेज है या हिन्दुस्तानी।

विन्ध्य यह सुनकर बहुत प्रसन्न हुई कि स्वामी बैरिस्टर होकर आये हैं, किन्तु माँ उसकी बिगड़ी हुई आदतों को देखकर बहुत व्याकुल हुई। अंत में उसने भी यह सोचकर दिल को समझा लिया कि आजकल का जमाना ही ऐसा है, इसमें अनाथ बंधु का क्या दोष?

इसके कुछ समय पश्चात् एक बहुत ही दर्द से भरी घटना घटित हुई। बाबू राजकुमार अपने कुटुम्ब–सहित नाव पर सवार होकर कहीं जा रहे थे कि सहसा नौका जहाज से टकराकर गंगा में डूब गयी। राजकुमार तो किसी प्रकार बच गये, किन्तु उनकी पत्नी और पुत्र का कहीं पता न लगा।

अब उनके कुटुम्ब में विन्ध्य के सिवाय कोई दूसरा शेष न रहा था। इस दुर्घटना के पश्चात् एक दिन राजकुमार बाबू विकल अवस्था में अनाथ बंधु से मिलने आये। दोनों में कुछ देर तक बातचीत होती रही, अंत में राजकुमार ने कहा–'जो कुछ होना था सो तो हुआ, अब प्रायश्चित करके अपनी जाति में सम्मिलित हो जाना चाहिए। क्योंकि तुम्हारे सिवाय अब दुनिया में हमारा कोई नहीं, बेटा या दामाद जो कुछ भी हो, अब तुम हो।'

अनाथ बंधु ने प्रायश्चित करना स्वीकार कर लिया। पंडितों से सलाह ली गयी तो उन्होंने कहा–'यदि इन्होंने विलायत में रहकर मांस नहीं खाया है, तो इनकी शुद्धि वेद–मंत्रों द्वारा की जा सकती है।'

यह समाचार सुनकर विन्ध्य हर्ष से फूली न समाई और अपना सारा दु:ख भूल गयी। आखिर एक दिन प्रायश्चित की रस्म अदा करने के लिए निश्चित किया गया।

बड़े आनंद का समय था, चहुँओर वेद–मंत्रों की गूँज सुनाई देती थी। प्रायश्चित के पश्चात् ब्राह्मणों को भोजन कराया गया और इसके परिणामस्वरूप बाबू अनाथ बंधु नये सिरे से बिरादरी में सम्मिलित कर लिये गये।

परन्तु ठीक उसी समय राजकुमार बाबू ब्राह्मणों को दक्षिणा दे रहे थे, एक नौकर ने कार्ड लिए हुए घर में प्रवेश किया और राजकुमार बाबू से कहने लगा–'बाबूजी! एक मेम आई है।'

मेम का नाम सुनते ही राजकुमार बाबू चकराये, कार्ड पढ़ा। उसपर लिखा था–'मिसेज अनाथ बंधु सरकार।'

इससे पहले राजकुमार बाबू हाँ या न में कुछ उत्तर देते, एक गोरे रंग की यूरोपियन युवती खट–खट करती अंदर आ उपस्थित हुई।

पंडितों ने उसको देखा, तो दक्षिणा लेनी भूल गये। घबराकर जिधर जिसके सींग समाये, निकल गये। इधर मेम साहिबा ने जब अनाथ बंधु को न देखा तो बहुत विकल हुई और उनका नाम ले–लेकर आवाजें देने लगी।

इतने में अनाथ बंधु कमरे से बाहर निकले। उन्हें देखते ही मेम साहिबा 'माई डीयर' कहकर झट उनसे लिपट गयी।

यह दशा देखकर घर के पुरोहित भी अपना बोरिया–बंधना सँभालकर विदा हो गये। उन्होंने पीछे मुड़कर भी न देखा।

लघुकथा

औकात

विश्वम्भर पांडेय 'व्यग्र'
गंगापुर सिटी, स.मा (राजस्थान)
9549165579

हरे बबूल पर छाई अमरबेल ने जब पास सूखे ठूँठ पर लौकी की बेल को नित हाथों बढ़ते देखा तो वो अंदर ही अंदर उससे ईर्ष्या करने लगी। एक दिन तो उससे रहा नहीं गया और कहने लगी–'अरे, ओ लौकी की बेल! तू मुझे दिखा दिखाकर क्या अपने चौड़े–चौड़े पत्तों को हिलाती है, फूलों को खिलाती है और लंबी–लंबी लौकी देने लगी है। तुझे पता भी है तू कितने दिन रहेगी ?वर्षा के मौसम के साथ–साथ तेरा भी पता नहीं चलेगा कहाँ गई ?मुझे देख, मैं वर्षा से पहले भी थी, आज भी हूँ और आगे भी रहूँगी।

अमरबेल की बात सुन, लोकी की बेल बोली–'बहिन, तुम ठीक कहती हो, मेरी उम्र अधिक नहीं है, पर मैं खुश हूँ; क्योंकि मैं अल्प जीवन में इस सूखे पेड़ को हरेपन का अहसास कराकर। उसे साहचर्य का सुख देकर अपने को धन्य जो मानती हूँ। अगर हम थोड़े जीवन में भी किसी को सुख व खुशी दे पाएँ तो वो अल्प जीवन भी बहुत बड़ा लगने लगता है। एक तुम हो अमरबेल! वास्तव में तुम्हारी उम्र मुझसे बहुत है, पर तुम्हारा जीवन दूसरों पर आश्रित जीवन है। तुम हमेशा दूसरों का शोषण कर अधिक जीवित रहती हो। तुम्हें जो भी पेड़ अपने सिर पर बैठाकर तुम्हें मान देता है, जान देता है, तुम अपने जीवन को बचाने के प्रयास में उसी को पल–पल नष्ट करने पर तुली रहती हो। और एक दिन तुम उस हरेभरे पेड़ को सूखा ठूँठ बना देती हो। फिर मेरे जैसी कोई बेल उसे पुनः जीवन तो नहीं दे पाती, पर कुछ दिनों के लिए ही सही,उसे हरेपन का अहसास तो करा ही देती है।
लौकी की बेल की बात सुनकर, अमरबेल निरुत्तर हो गयी। उसे अपनी औकात का पता चल चुका था।

लोकवाणी

–बी.डी. बजाज,
ए 83, गुजरांवाला टाउन,
देहली–110009

आदरणीय दयानन्दजी,

सप्रेम नमस्कार,

जनवरी 2016 की 'सुसंभाव्य' पत्रिका मिली। आवरण से लेकर अंदर की विभिन्न विधाओं में लेखन बहुत ही प्रभावी और समयानुकूल लगा। संपादकीय पढ़कर हर्षित हुआ। सभी कविताएँ और गजलें पठनीय हैं। अनिरुद्ध सिन्हा की गजल में नयापन है। 'जिन परिन्दों के नये पंख निकल जाते हैं, उनके उड़ने के भी अंदाज बदल जाते हैं।' एक शाश्वत सत्य को उजागर किया है लेखक ने। अनुज प्रताप सिंह की कहानी 'चरित्र' आज की नौकरी पेशा महिलाओं के लिए मार्गदर्शक है। आपने 'सुसंभाव्य' के अंतर्गत रचनाएँ भेजने का आह्वान किया है–दो कविताएँ इस पत्र के साथ भेज रहा हूँ। यदि इस पत्रिका के स्तर का लगे, तो छाप दीजिएगा। नापसंदगी की हालत में मात्र सूचित कर दीजिएगा। धन्यवाद सहित!

भवदीय

–हीरा प्रसाद 'हरेन्द्र'
कटहरा, सुलतानगंज,
भागलपुर

'सुसंभाव्य' का जनवरी सोलह वाला अंक,
देखा तो ऐसा लगा, तारों बीच मयंक।
आकर्षक है आवरण, सामग्री अनमोल।
पन्ना–पन्ना में भरा, है मिश्री का घोल।
'संस्थापक की कलम से', पढ़कर हुआ निहाल।
संजोये जो स्वप्न हैं, उनका नहीं मिशाल।।
गीत, गजल, आलेख या कहानियाँ बेजोड़।
रोचकता के साथ ही, तथ्यों की है होड़।।
एक आध है लघुकथा, उसका सुंदर भाव।
सामाजिक परिवेश में, ला सकती बदलाव।।
स्तंभ लोकवाणी सदा, देना है अनिवार्य।
पाठक की यह अर्ज तो, होगी ही स्वीकार्य।।
यह युग तो है अर्थ का, अर्थ बिना हर काम।
बीच राह दम तोड़ता, होता चक्का जाम।।
वितरित होती पत्रिका, पढ़ने को निःशुल्क।
साक्षी हैं इस बात के, दुनिया के कुछ मुल्क।।
दयानंद जी धन्य हैं, उनका भाव विचित्र।
साहित्य का सर्वत्र ही, छिड़क रहे हैं इत्र।।
छपकर नियमित पत्रिका, आ जाती है हाथ।
नियमितता की कामना, करूँ विनय के साथ।।
दयानंदजी स्वस्थ रह, देखेंगे उत्कर्ष।
जीवन इनका धन्य हो, जियें शताधिक वर्ष।।

लोकवाणी

1. विश्वम्भर पाण्डेय 'व्यग्र', गंगापुर सिटी, राजस्थान

परमादरणीय
दयानन्द जायसवाल साहब!

नमस्कार।
'सुसंभाव्य' जनवरी, 2016 अंक मुझे मिल गया है। अंक का आवरण पृष्ठ बहुत प्रिय लगा। इस उच्च स्तरीय अंक में सभी रचनाएँ प्रतिभा एवं साधना का पर्याय बनी हुई दिखाई पड़ रही हैं। इस उत्कृष्ट अंक की उत्तम प्रस्तुति के लिए सभी संपादक–मंडल को बहुत–बहुत शुभकामनाएँ....।

2. नीलम कुलश्रेष्ठ, अहमदाबाद, 9925534694

आदरणीय जायसवालजी,

नमस्कार!
विश्व में अपराध, आतंक, द्वेष, ईर्ष्या व हिंसा से लड़ने में कलम कितनी कारगर है, ये तो पता नहीं; लेकिन तीन वर्ष से इनके विरोध में 'सुसंभाव्य' जैसे पत्रिका का प्रकाशन व नि:शुल्क वितरण करके जो आप सात्त्विक कार्य कर रहे हैं, उसके लिए अभिनन्दन। यह अंक डॉ. गिरिजाशंकर मोदी की 'अरुणा शानवाग' के विषय में जानकारी व उनकी कविता के कारण सार्थक बन गया है। आप अपने उद्देश्य में सफल रहे हैं। ये अच्छी बात है कि आप नवोदितों को भरपूर प्रोत्साहन दे रहे हैं।
विश्व में हिन्दी नेट पत्रिकाएँ हिन्दी के प्रचार व प्रसार में बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा कर रही हैं। इस विषय पर सुरजित सिंह वर्णाल व डॉ. अश्विनीजी के महत्त्वपूर्ण लेख हैं। बधाई! ये योगदान भी आपकी पत्रिका कर रही है। आशा है, इसी तरह मैथिलीशरण जी जैसे वरिष्ठ रचनाकारों पर लेख देकर आज के रचनाकारों को राह दिखाते रहेंगे। मैं अस्मिता, 'महिला बहुभाषी साहित्यिक मंच' की संस्थापिका हूँ, जिसमें मैं इसकी चर्चा करूँगी।
एक बात और भागलपुर एक नृशंस अमानवीय घटना के कारण कुप्रसिद्ध हुआ था, 'सुसंभाव्य' इस शहर के उस कलंक को धो रही है।
पत्रिका व आपके उज्ज्वल भविष्य के लिए शुभकामनाएँ।

3. महावीर राजी, आसनसोल, 9832194614

भाई दयानन्दजी!
स्वस्थ होंगे। 'सुसंभाव्य' पत्रिका मिली। आभार! सभी सामग्री स्तरीय एवं पठनीय हैं। बल्कि कहूँगा कि पत्रिका के छोटे कलेवर में इतनी सारी और उत्कृष्ट रचनाओं का समायोजन कर पाना आप जैसे कर्मठ और साहसी व्यक्तित्व द्वारा ही संभव है।
इस स्तुत्य प्रयास के लिए एक बार फिर हार्दिक बधाई!

4. अभिनव अरुण, वरिष्ठ उद्घोषक, आकाशवाणी, वाराणसी

सेवा में,
संपादक महोदय,
'सुसंभाव्य' त्रैमासिक
सादर अभिवादन!
प्रथमत: 'संभाव्य' से 'सुसंभाव्य' होने पर बधाई! यह विशेषण नि:संदेह हम सबकी प्रिय पत्रिका के उत्तरोत्तर विकास का कारक बनेगा। सार्वभौमिकता ऐसे तो साहित्य के मूल में होता है। लेकिन अपने प्रकाशन काल से ही इस पत्रिका ने इस पथ पर चलते हुए एक नवीन सृजनशील परिवार को गढ़ा है। इन कुछेक वर्षों में 'सुसंभाव्य' परिवार से अनेक रचनाकार जुड़े हैं और इसका देश के कोने–कोने सहित अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रसार हुआ है। इस हेतु भी संपादन प्रबंधन टीम बधाई के पात्र हैं। अंक नियमित प्राप्त हो रहे हैं। जब कभी मन होता है, वेबसाइट पर पुराने अंक भी दुहरा लेता हूँ।
जनवरी, 2016 अंक मिला। पुरोवाक् में संस्थापक महोदय ने आज के हालात में बौद्धिक वर्ग की बढ़ती जिम्मेदारी को रेखांकित किया है। सचमुच, जिस प्रकार आज कला और साहित्य भी बाजार और लोकप्रियता सापेक्ष होते जा रहे हैं, वह चिंता का विषय है। स्वान्त: सुखाय के स्थान पर मीडिया और इंटरनेट के युग में हर कोई काम कम और नाम ज्यादा की फिक्र में है। अंक समृद्ध है, विशेषकर कविता और समीक्षा की दृष्टि से। निर्मल वर्मा, मैथिलीशरण गुप्त, महादेवी वर्मा, मैत्रेयी पुष्पा पर केन्द्रित आलेख रुचिकर और ज्ञानवर्द्धक होने के साथ शोधपरक और संग्रहणीय हैं। इनके रचनाकारों को बधाई। कविताओं में गजलों की प्रचुरता सुखकर है। हर अंक में कम–से–कम एक–दो अच्छी कहानियों का होना अपेक्षित है। धरोहर क्रम में पुराने अथवा अनुदित भाषाई एवं विदेशी कहानियों को स्थान दिया जाता है। डॉ. अनुज प्रभात की कहानी 'चरित्र' अच्छी लगी, उन्हें विशेष बधाई!

सुसंभाव्य
प्रिंटिंग प्रेस, भागलपुर